आगम के आलोक में

समाधिमरण या सल्लेखना

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

स्व. श्रीमती ममता जैन की स्मृति में
श्रीमान् इन्द्रमल एस. जैन, मुम्बई
की ओर से सभी साधर्मियों को

स्वाध्यायार्थ भेंट

आगम के आलोक में –

समाधिमरण या सल्लेखना

(परिवर्धित संस्करण)

लेखक

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पी-एच.डी., डी-लिट्

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर-302 015

फोन : 0141-2707458, 2705581

E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

आगम के आलोक में –
समाधिमरण या सल्लेखना : डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

● **प्रथम दो संस्करण** : 30 हजार
(15 अगस्त 2015 से अद्यतन)
तृतीय संस्करण : 5 हजार
(22 अक्टूबर 2015)
(विजयादशमी)

कुल : **35 हजार**

मूल्य : **पाँच रुपये**

प्रस्तुत कृति के प्रकाशन सहयोग हेतु मधुविहार नई दिल्ली निवासी श्रीमान् अशोककुमारजी जैन (गिफ्ट पैलेस) की ओर से 51,000/- रुपये की राशि सधन्यवाद प्राप्त हुई।

टाइपसैटिंग :
त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स,
ए-4, बापूनगर, जयपुर

ISBN-978-81-931576-5-7

मुद्रक :
रैनवो ऑफसेट प्रिंटर्स
बाईस गोदाम, जयपुर

विषय-सूची

1. आगम के आलोक में – समाधिमरण या सल्लेखना 1
2. सल्लेखना का प्रयोगिक स्वरूप 28
3. एक साक्षात्कार : डॉ भारिल्ल से 45

● प्रथम दो संस्करण पण्डित टोडरमल सर्वोदय ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित हैं।

प्रकाशकीय

(तृतीय संस्करण)

अ.भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् के राष्ट्रीय अध्यक्ष डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल की महत्वपूर्ण कृति 'समाधिमरण या सल्लेखना' का मात्र २० दिन में २५ हजार का प्रथम संस्करण हाथोंहाथ समाप्त हो जाना इसकी लोकप्रियता को दर्शाता है। ५ हजार का द्वितीय संस्करण ५ सितम्बर को प्रकाशित हुआ और डेढ़ माह की अवधि में समाप्त हो गया। अब यह ५ हजार का तृतीय संस्करण प्रस्तुत है।

डॉ. भारिल्ल अपने प्रवचनों में समय-समय पर समाधिमरण और सल्लेखना के संबंध में अपने क्रान्तिकारी विचार प्रगट करते रहे हैं। यह भी कहते रहे हैं कि मैं सल्लेखना के सन्दर्भ में एक पुस्तक लिखना चाहता हूँ। मुमुक्षुभाई भी उनसे इसप्रकार की पुस्तक जल्दी से जल्दी लिखने का अनुरोध करते रहे हैं। पर बात टलती रही। किसी ने ठीक ही कहा है कि समय के पहले कोई काम नहीं होता। प्रत्येक कार्य स्वकाल में ही होता है।

लगता है सल्लेखना पर लिखने का स्वकाल आ गया है। प्रस्तुत कृति प्रकाशन के लिये प्रेस में दी जा चुकी थी, छपकर तैयार थी कि इसी बीच 10 अगस्त 2015 को हाईकोर्ट का आदेश सल्लेखना-संथारा के विरोध में आ गया।

उक्त संदर्भ में इस ज्वलन्त समस्या पर प्रखर पत्रकार एवं समन्वयवाणी के सम्पादक श्री अखिल बंसल ने डॉ. भारिल्ल से एक साक्षात्कार (इन्टरव्यू) लिया जिसे भी पुस्तक के अन्त में समाहित किया गया है। उक्त साक्षात्कार से विषय का स्पष्टीकरण स्वतः हो जाता है।

यह एक क्रान्तिकारी कृति है; जिसे प्रकाशित करने का अवसर हमें प्राप्त हुआ है। प्रकाशन के पूर्व मैंने इसका गहराई से अध्ययन किया है।

इस कृति में ऐसे अनेक तथ्य उजागर हुये हैं, जो आपके ध्यान में अब तक नहीं होंगे। यद्यपि वे सभी रहस्य जिनागम में विद्यमान हैं, पर हमारे ध्यान में नहीं आये थे। यह कृति उक्त तथ्यों की ओर आपका ध्यान आकर्षित करेगी।

इस क्रान्तिकारी कृति की रचना के लिये डॉ. भारिल्ल को, प्रकाशन व्यवस्था के लिये अखिल बंसल को और कम्पोजिंग के लिये कैलाशचन्द्र शर्मा को हार्दिक धन्यवाद।

प्रकाशन व्यवस्था और कीमत कम करने वालों की लिस्ट यथास्थान दी गई है। उनके उदार सहयोग के लिये धन्यवाद।

20 अक्टूबर, 2015 ई. — **ब्र. यशपाल जैन**, एम.ए.

प्रकाशन मंत्री

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

1.	श्री अजय जैन, मेरठ	2,100.00
2.	श्री प्रेमचन्द जैन, दौसा	1,100.00
3.	श्री दि. जैन मुमुक्षु मण्डल, प्रतापगढ़	1,100.00
4.	कैलाशचन्दजी अग्रवाल फार्म, जयपुर	1,100.00
5.	श्री राजेश जैन, जयपुर	1,100.00
6.	श्री दिलीप कंठाली, इन्दौर	1,100.00
7.	श्रीमती नमिता पाटनी, मंदसौर	1,100.00
8.	श्री विदेह गांधी, मंदसौर	1,100.00
9.	श्री प्रेमचन्द जैन, दौसा	1,100.00
10.	श्रीमती शशि सुरेशचन्द जैन, शिवपुरी	1,100.00
11.	श्रीमती कनकमाला जैन, कोटा	1,000.00
12.	सुश्री माधुरी टोंग्या, जयपुर	500.00
13.	श्रीमती सुमन भाटिया, जयपुर	500.00
14.	श्रीमती शोभा रांवका, जयपुर	500.00
15.	श्रीमती प्रेमलता जैन, बारां	500.00
16.	कु. लब्धि जैन, श्योपुर	500.00
17.	श्री प्रशम जैन, श्योपुर	500.00
18.	कु. गाथा जैन, श्योपुर	500.00
19.	श्री उपशम जैन, श्योपुर	500.00
20.	श्री नेमीचन्द जैन, बड़कुल पथरिया	500.00
21.	श्रीमती विमलादेवी बड़जात्या, जयपुर	500.00
22.	श्रीमती उमा जैन, जयपुर	500.00
		18,500.00

आगम के आलोक में –

समाधिमरण या सल्लेखना

मानसिक दुःखों को **आधि** कहते हैं, शारीरिक कष्टों को **व्याधि** कहते हैं, बाह्य संयोगों कृत उपद्रवों को **उपाधि** कहते हैं और इन तीनों से रहित आत्मस्वभाव में समा जाने को **समाधि** कहते हैं।

आधि, व्याधि और उपाधि में विषमता है। इनमें सुख-शांति नहीं; आकुलता है, अशान्ति है। भगवान आत्मा के स्वभाव में न आकुलता है, न अशान्ति है। इसलिये **आत्मस्वभाव में समा जाने रूप समाधि में समाहित हो जाना ही धर्म है, आत्मधर्म है।**

वर्तमान भव को छोड़कर आगामी भव में जाने को मरण कहते हैं। वर्तमान भव के समस्त संयोगों का एक साथ वियोग होने का नाम मरण हैं।

यद्यपि यह मरण जीर्ण-शीर्ण देह आदि संयोगों के वियोग का नाम है; तथापि इनमें एकत्वबुद्धि के कारण, ममत्वबुद्धि के कारण, अपनेपन के कारण देह आदि सभी संयोगों के वियोग की कल्पना भी अज्ञान अवस्था में इस जीव को आकुल-व्याकुल कर देती है।

वस्तुस्वरूप के जानकार ज्ञानीजन स्वयं को देहादि सभी संयोगों से अत्यन्त भिन्न समझते हैं; इस कारण इनके वियोग में होने वाला दुःख उन्हें नहीं होता। चारित्रमोह के उदय से थोड़ा-बहुत दुःख होता भी है, तो वह अज्ञानी के दुःख से अनन्तवाँ भाग है।

सदा समता भाव में रहने वाले ज्ञानीजन इन सभी संयोगों के सहज ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं, और श्रद्धा की अपेक्षा से सदा समाधि में ही रहते हैं।

चाहे स्व का परिणमन हो, चाहे पर का; जगत के सम्पूर्ण परिणमन के प्रति समताभाव रहना ही समाधि है। स्व-पर के सम्पूर्ण परिणमन में इष्ट-अनिष्टबुद्धि नहीं होना ही समाधि है। जो हो रहा है, वह हो रहा है; उसमें यह हो और यह न हो; इसप्रकार की काँक्षा एक प्रकार से निदान ही है। निदान एक शल्य है, आर्तध्यान है। उसके रहते समाधि कैसे हो सकती है?

समाधि के साथ होने वाले मरण को समाधिमरण कहते हैं। इसी समाधिमरण का दूसरा नाम सल्लेखना है।

मरणान्त समय में होनेवाली इस सल्लेखना के सम्बन्ध में रत्नकरण्डश्रावकाचार के सल्लेखना नामक (छठवें) अधिकार में आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं –

''उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनु विमोचनमाहुः सल्लेखनामार्या ।।[१]

जिनका प्रतिकार संभव न हो; ऐसे उपसर्ग में, दुर्भिक्ष में, बुढ़ापे में और रोग की स्थिति में धर्म की रक्षा के लिये शरीर का त्याग कर देने को आर्यगण सल्लेखना कहते हैं, समाधिमरण कहते हैं।''

तात्पर्य यह है कि ऐसा उपसर्ग आ जाय कि मृत्यु सन्निकट हो, उससे बचने का कोई उचित मार्ग न रह गया हो; ऐसा दुर्भिक्ष (अकाल) आ पड़े कि जब शुद्ध सात्विक विधि से जीवन निर्वाह संभव न रहे; ऐसा बुढ़ापा आ जाय कि अहिंसक विधि से जीवित रहना संभव न रहा हो; ऐसी बीमारी आ जाय कि अहिंसक विधि से जिसका उपचार (इलाज) संभव न रहे; ऐसी स्थिति में अपने धर्म की रक्षा के लिये शास्त्रविहित विधिपूर्वक शरीर का त्याग कर देने को सज्जन पुरुष, ज्ञानीजन, समाधिमरण या सल्लेखना कहते हैं।

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक १२२

यदि उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और भयंकर बीमारी का प्रतिकार संभव हो, इलाज संभव हो तो सबसे पहले प्रतिकार करना चाहिये, इलाज करना चाहिये, उपाय करना चाहिये।

यदि कोई भी अहिंसक एवं निरापद उपाय शेष न रहा हो तो जिनागम में निरूपित विधि से समाधि ले लेना चाहिये।

ध्यान रहे जिसप्रकार उक्त परिस्थिति में भी सल्लेखना नहीं लेना उचित नहीं है; उसीप्रकार **प्रतिकार संभव होने पर भी सल्लेखना ले लेना ठीक नहीं है; एकप्रकार से वह उससे भी बड़ा अपराध है; क्योंकि उसमें आत्मघात संबंधी दोष लगेगा।**

यहाँ एक **प्रश्न** संभव है कि यह तो एक प्रकार से आत्महत्या ही हुई। आत्महत्या परजीवों की हत्या से भी बड़ा पाप है।

उत्तर – सल्लेखना या समाधिमरण आत्महत्या नहीं है; क्योंकि आत्महत्या तो अत्यन्त तीव्रकषाय के आवेग में की जाती है; पर इसमें तो बहुत सोच-समझकर विवेकपूर्वक कषायों को मन्द करते हुये शरीर को कृष किया जाता है। वह भी तब, जबकि जीवित रहने का कोई उपाय शेष न रहे।

जहाँ तक हमारे व्रतों की मर्यादा के भीतर उपचार संभव है, इलाज संभव है; वहाँ तक सल्लेखना लेने का अधिकार ही नहीं है।

मृत्यु की अनिवार्य उपस्थिति में अत्यन्त समताभाव पूर्वक योग्य गुरु के मार्गदर्शन में प्राणों का विधिपूर्वक उत्सर्ग (त्याग) कर देना ही समाधिमरण है, सल्लेखना है।

देह का त्याग कर देना है अर्थात् देह के सहज होते हुये वियोग को वीतरागभाव से देखते-जानते रहना है। देह का त्याग करने के लिये कुछ करना नहीं है; शान्तभाव से ज्ञाता-दृष्टा बने रहना ही है।

देह का परिवर्तन तो होना ही है। यह एक सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक सत्य है। इस सत्य को स्वीकार कर देह हमें छोड़े – इसके

पहले हम उसे छोड़ने को तैयार हो जावें – इसी में समझदारी है। **इस समझदारी का प्रायोगिक रूप ही सल्लेखना है, समाधिमरण है।**

उक्त छन्द में सर्वाधिक महत्वपूर्ण पद **निःप्रतिकारे** है। यह विशेषण इसके पहले आये चारों पदों में लगाना अनिवार्य है।

तात्पर्य यह है कि जिस उपसर्ग को किसी भी स्थिति में दूर करना संभव न हो, जिस अकाल (दुर्भिक्ष) में अहिंसक विधि से जीवनयापन संभव ही न रहा हो, ऐसा बुढ़ापा कि जिसमें सभी इन्द्रियाँ पूर्णतः शिथिल हो गई हों, जीना एकदम पराधीन हो गया हो, ऐसा प्राण घातक रोग कि जिसका कोई इलाज ही न हो; ऐसी स्थिति में ही सल्लेखना धारण की जा सकती है।

जिस उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और रोग में जीवन को कोई खतरा न हो, जीवन यापन असंभव न हो; तो सल्लेखना लेना उचित नहीं है। उक्त स्थितियों का अर्थात् उपसर्गादि का उचित प्रतिकार करना चाहिये।

समताभावपूर्वक मरना नहीं; जीना ही उचित है, क्योंकि मरकर जहाँ भी जावोगे, वहाँ आरंभ में तो असंयमी जीवन ही यापन करना होगा। अतः **संयम की साधक वर्तमान मनुष्य पर्याय को छोड़ना उचित नहीं है।**

उक्त संदर्भ में **पण्डित सदासुखदासजी लिखते हैं** –

"यदि धर्म सेवन की सहकारी इस देह को आहार त्याग करके छोड़ देगा तो क्या देव, नारकी, तिर्यंचों की संयम रहित देह से व्रत-तप-संयम सधेगा?

रत्नत्रय की साधक तो यह मनुष्य देह ही है। जो धर्म की साधक मनुष्य देह को आहारादि त्यागकर छोड़ देता है, उसका क्या कार्य सिद्ध होता है? इस देह को त्यागने से हमारा क्या प्रयोजन सधेगा?

व्रत-धर्म रहित और दूसरा नया शरीर धारण कर लेगा।"

पण्डित सदासुखदासजी के उक्त कथन में समुचित परिस्थिति आने के पूर्व आहारादि के त्याग का जोर देकर निषेध किया गया है।

सागार धर्मामृत में पण्डित आशाधरजी लिखते हैं –

"न धर्मसाधनमिति स्थास्नु नाश्यं वपुर्बुधैः।
न च केनापि नो रक्ष्यमिति शोच्यं विनश्वरम्।।५।।[१]

तत्त्वज्ञानी पुरुषों को धर्म का साधन होने से शरीर को नष्ट नहीं करना चाहिये और यदि वह शरीर स्वयं नष्ट होता हो तो शोक नहीं करना चाहिये; क्योंकि मरते हुये को कोई नहीं बचा सकता।"

आशाधरजी के उक्त कथन में शरीर को नष्ट नहीं करने का स्पष्ट आदेश दिया गया है। साथ ही यह भी कहा है कि यदि शरीर का नाश हो ही रहा हो तो खेद नहीं करना चाहिये।

अकेले शरीर को कृष करना ही सल्लेखना नहीं है, अपितु शरीर के साथ-साथ कषायों को कृश करना भी आवश्यक है।

सम्यक् काय कषाय लेखना सल्लेखना[२] – आचार्य पूज्यपाद के इस कथन के अनुसार शरीर और कषायों को भलीभाँति कृश करना ही सल्लेखना है।

सागारधर्मामृत में पण्डित आशाधरजी लिखते हैं –

"उपवासादिभिः कायं कषायं च श्रुतामृतैः।
संलिख्य गणमध्ये स्यात् समाधिमरणोद्यमी।।१५।।

समाधिमरण के लिए प्रयत्नशील साधक उपवास आदि के द्वारा शरीर को और श्रुतज्ञानरूपी अमृत के द्वारा कषाय को सम्यक् रूप से कृश करके चतुर्विध संघ में उपस्थित होवे। अर्थात् जहाँ चतुर्विध संघ हो वहाँ चला जाये।"

---

१. धर्मामृत सागार, पृष्ठ-३११
२. सर्वार्थसिद्धि अध्याय-७, सूत्र २२ की टीका में समागत।

उक्त छन्द में शरीर को कृश करने का उपाय उपवास आदि को और कषायों को कृश करने का उपाय श्रुताभ्यास (स्वाध्याय) को बताया है साथ में चतुर्विध (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) संघ के सत्समागम में रहने को कहा है।

इससे यह स्पष्ट है कि – यह सब कथन घर में रहनेवाले व्रती श्रावकों का ही है।

"जन्ममृत्युजरातङ्काः कायस्यैव न जातु मे।
न च कोऽपि भवत्येष ममेत्यङ्गेऽस्तु निर्ममः।।[१]

जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और रोग शरीर में ही होते हैं, मुझ (आत्मा) में नहीं। अतः मुझे इस शरीर में निर्मम होना चाहिये।

पिण्डो जात्याऽपि नाम्नाऽपि समो युक्त्याऽपि योजितः।
पिण्डोऽस्ति स्वार्थनाशार्थो यदा तं हापयेत्तदा।।[२]

पिण्ड शरीर को भी कहते हैं और भोजन को भी। इसप्रकार शरीर और भोजन में जाति और नाम दोनों से समानता है; फिर भी आश्चर्य है कि अबतक शरीर को लाभ पहुँचाने वाला भोजन, अब शरीर को हानि पहुँचाता है; इसलिये भोजन का त्याग ही उचित है।"

उक्त कथन से अत्यन्त स्पष्ट है कि जब भोजन शरीर को पोषण न देकर शरीर का शोषण करने लगे, शरीर को नुकसान पहुँचाने लगे; तब उसका त्याग करना चाहिये।

ध्यान रहे यहाँ यह कहा जा रहा है कि **जब भोजन शरीर को नुकसान पहुँचाने लगे, उसका त्याग तब करना चाहिये।**

महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में भी आचार्य उमास्वामी ने अणुव्रतधारी श्रावकों को मुख्यरूप से व अन्य मुमुक्षु भाई-बहिनों को गौणरूप से आदेश दिया है, उपदेश दिया है कि–

१. धर्मामृत (सागार) आठवाँ अध्याय, छन्द १३
२. वही, छन्द १४

"मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ।।[१]

मरणकाल उपस्थित होने पर सल्लेखना (समाधिमरण) व्रत का श्रावकों को प्रीति पूर्वक सेवन करना चाहिए।"

उपसर्गादि के होने पर तो सल्लेखना होती ही है। सहज मृत्युकाल उपस्थित होने पर जीवन के अन्त में भी सल्लेखना धारण करना आवश्यक है।

आचार्य अमृतचन्द्र देव अपने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक श्रावकाचार में इस बात पर विशेष बल देते हैं कि यह सल्लेखना नामक व्रत ही एक ऐसा व्रत है कि जो तेरे धर्मरूपी धन को अगले भव में ले जावेगा।

यद्यपि यह सल्लेखना नामक व्रत जीवन के अन्त में लिया जाता है; तथापि इस व्रत को लेने की भावना बहुत पहले से रखी जा सकती है और रखी जानी चाहिये।

अतः यह न केवल मृत्यु को सुगंधित करने वाला व्रत (कार्य) है, परन्तु यह जीवन को भी भावना के बल पर सुगन्धित कर देता है।

उक्त कथन करने वाले छन्द मूलतः इसप्रकार हैं -

"इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुम्।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या ।।
मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि।
इति भावनापरिणतोऽनागतमपि पालयेदिदं शीलम् ।।[२]

यह सल्लेखना ही एकमात्र ऐसा व्रत है, जो मेरे धर्म को अगले भव में ले जाने में समर्थ है; अतः निरन्तर इसकी भावना करना चाहिये।

मैं मरण के समय अवश्य ही सल्लेखना धारण करूँगा - ऐसी भावना रखकर ज्ञानी जीव मरण समय के पहले ही इस व्रत का लाभ ले लेता है।"

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-७, सूत्र २२
२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय छन्द-१७५-१७६

देह तो पुद्गलपरमाणुओं का पिण्ड है। पुद्गल परमाणु तो समय आने पर यहीं बिखर जावेंगे, पर मैं तो अनादि अनन्त अविनाशी तत्त्व हूँ; अतः मैं तो अगले भव में भी रहने वाला हूँ। मेरा धर्म भी मेरे साथ रहने वाला है। अतः हमें देह के बारे में, धन-सम्पत्ति के बारे में न सोच कर अपने आत्मतत्त्व के बारे में सोचना चाहिये, अपने आत्मतत्त्व की संभाल में ही सावधान होना चाहिये।

उक्त छन्दों में आचार्य अमृतचन्द्र हमें यही आदेश देना चाहते हैं, यही उपदेश देना चाहते हैं।

इस सल्लेखना व्रत का वर्णन श्रावकाचारों में आता है। दूसरी प्रतिमा में १२ व्रतों की चर्चा के उपरान्त इसका निरूपण होता है।

पण्डित प्रवर आशाधरजी भी इस सल्लेखना व्रत की चर्चा अनगार धर्मामृत में न करके सागारधर्मामृत में करते हैं। सातवें अध्याय में व्रती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन करने के उपरान्त आठवें अध्याय में सल्लेखना की बात करते हैं।

आशाधरजी श्रावकों के तीन भेद करते हैं – १. पाक्षिक, २. नैष्ठिक और ३. साधक।

जिसे जैनदर्शन का पक्ष है, वह पाक्षिक श्रावक है और जिसकी निष्ठा जैनदर्शन में है, वह नैष्ठिक श्रावक है। जैनदर्शन की साधना करने वाला श्रावक साधक श्रावक है।

अव्रती सम्यग्दृष्टि पाक्षिक श्रावक है और ग्यारह प्रतिमाओं को धारण करनेवाला, उनका निष्ठापूर्वक पालन करनेवाला नैष्ठिक श्रावक है। समाधिपूर्वक मरण का वरण करनेवाला अर्थात् सल्लेखना धारण करनेवाला साधक श्रावक है। इसप्रकार यह सुनिश्चित ही है कि यह व्रत व्रती श्रावकों का व्रत है।

आचार्य समन्तभद्र द्वारा रचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार के छठवें अध्याय में सल्लेखना की चर्चा करने के उपरान्त सातवें अध्याय में ग्यारह प्रतिमाओं की बात करते हैं।

सबकुछ मिलाकर ग्यारह प्रतिमायें और उनमें समागत बारह व्रतों के इर्द-गिर्द ही समाधिमरण (सल्लेखना) की चर्चा की जाती रही है।

इससे भी यह सिद्ध होता है कि **यह मुख्यरूप से पंचमगुणस्थानवर्ती व्रती श्रावकों का व्रत है।** साधु तो सदा समाधिस्थ ही रहते हैं; उनका सम्पूर्ण जीवन समाधिमय है और जिनका जीवन समाधिमय होता है; उनका मरण भी नियम से समाधिमय होता ही है।

समाधिमरण की चर्चा में माता-पिता, पत्नी-पुत्र आदि कुटुम्बीजनों से आज्ञा लेना, क्षमायाचना करना मुनिराजों के कैसे संभव है? सभी कुटुम्बीजनों को संपत्ति बाँटने की बात भी कैसे संभव है; क्योंकि वे तो यह सब दीक्षा लेते समय ही कर चुके हैं।

अव्रती के जब कोई व्रत नहीं है तो फिर यह व्रत भी मुख्यरूप से कैसे हो सकता है? सामान्यरूप से तो सभी ज्ञानी-अज्ञानी मृत्यु समय सावधानी की अपेक्षा रखते ही हैं और रखना भी चाहिये।

आचार्य श्री **अमितगति** द्वारा रचित **मरणकण्डिका** नामक ग्रन्थ, आचार्य **शिवार्य** द्वारा प्राकृत भाषा में लिखी गई **भगवती आराधना या मूल आराधना** का संस्कृत रूपान्तर है। उसमें आचार्यदेव ने पाँच प्रकार के मरणों की चर्चा की है; जो इसप्रकार हैं -

(१) बाल-बालमरण (२) बालमरण (३) बाल पण्डितमरण (४) पण्डितमरण और (५) पण्डित-पण्डितमरण।

(१) मिथ्यादृष्टियों के मरण को बाल-बालमरण कहते हैं।

(२) अविरत सम्यग्दृष्टियों के मरण को बालमरण कहते हैं।

(३) प्रतिमा-धारियों और आर्जिकाओं के मरण को बाल पण्डितमरण कहते हैं।

(४) मुनिराजों के मरण को पण्डितमरण कहते हैं।

(५) अरिहंतों के निर्वाण को पण्डित-पण्डितमरण कहते हैं।

गुणस्थान परिपाटी के अनुसार प्रथम गुणस्थानवालों का मरण **बाल-बालमरण** है। चतुर्थ गुणस्थानवालों का मरण **बालमरण** है। पंचम गुणस्थानवालों का मरण **बाल पण्डितमरण** है। छठवें से ग्यारहवें गुणस्थानवालों का मरण **पण्डितमरण** है और तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान वालों का निर्वाण **पण्डित-पण्डितमरण** कहा जाता है।

प्रस्तुत कृति में उक्त पाँच मरणों में मात्र दूसरे और तीसरे मरण को अर्थात् चौथे और पाँचवें गुणस्थानवालों के समाधिमरण या सल्लेखना को विषय बनाया गया है।

अतः हम कह सकते हैं कि हमारी इस कृति का विषय मात्र अव्रती और अणुव्रती सम्यग्दृष्टियों की सल्लेखना है।

ध्यान रहे बारह व्रतों में अतिचारों की चर्चा के साथ ही सल्लेखना के अतिचार भी गिनाये हैं। यह भी सिद्ध करता है कि **यह सल्लेखना नामक व्रत मुख्य रूप से व्रती श्रावकों का है।**

यह व्रत धारण करने वाले आत्मार्थी भाई-बहिनों को उनकी कमजोरी के कारण जो अल्प दोष लग जाते हैं; उन्हें अतिचार कहते हैं। सल्लेखना व्रत में लगने वाले अतिचार इसप्रकार हैं –

"जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबंधनिदानानि[1]

जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबंध और निदान – ये पाँच सल्लेखना व्रत के अतिचार हैं।"

१. जीविताशंसा – सल्लेखना लेकर जीने की इच्छा रखना, जीविताशंसा नामक प्रथम अतिचार है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र अध्याय-७, सूत्र ३७

२. मरणाशंसा – रोगादि के कष्ट से घबड़ा कर जल्दी मरने की इच्छा होना, मरणाशंसा नामक दूसरा अतिचार है।

वैसे तो प्रत्येक आत्मार्थी मुमुक्षु भाई–बहिन की भावना ऐसी होना चाहिए या होती है कि –

"लाखों वर्षों तक जीऊँ या मृत्यु आज ही आ जावे।[1]"

सल्लेखना लेनेवाले को तत्काल मरने और अपरिमित काल तक जीने के लिए तैयार रहना ही चाहिए।

३. मित्रानुराग – मित्रों के साथ अनुराग होना, उन्हें बार–बार याद करना, मित्रानुराग नामक तीसरा अतिचार है।

४. सुखानुबंध – भोगे हुए सुखों (भोगों) को याद करना, सुखानुबंध नामक चौथा अतिचार है।

५. निदान – आगे के भोगों की चाह होना, निदान नामक पाँचवाँ अतिचार है।

ये सल्लेखना व्रत के पाँच अतिचार हैं। इन्हें जानकर तत्त्व चिन्तन के माध्यम से इनसे बचने का प्रयास करना चाहिये।

यह सल्लेखना व्रत तो व्रतियों का है – यह सोचकर अव्रतियों को इससे विरक्त नहीं होना चाहिये। उन्हें अपनी शक्ति के अनुसार इसका पालन करना ही चाहिये।

मृत्यु को बलात् आमंत्रण देने का नाम समाधिमरण नहीं है।

धर्मपालन करने की दृष्टि से सर्वोत्तम मानवजीवन को यों ही बलिदान कर देने का नाम धर्म नहीं है।

धर्म तो स्वयं को जानना है, पहिचानना है; स्वयं को जानकर, पहिचानकर स्वयं में अपनापन स्थापित करने का नाम है; स्वयं में ही समा जाने का नाम है, समाधिस्थ हो जाने नाम है।

---

१. जुगलकिशोरजी मुख्त्यार : मेरी भावना, छन्द ७

देहादि संयोगों से एकत्व-ममत्व तोड़ने का नाम समाधि है। ध्यान रहे **समाधिमरण में मरण मुख्य नहीं है, समाधि मुख्य है। समाधि की तो** कोई बात ही नहीं करता; सभी मरण के बारे में ही सोचते हैं।

समाधि मूलतः उपादेय है। जीवन में भी और मरण में भी एकमात्र समताभाव, समाधि ही उपादेय है।

मरण तो आपतित है। एक बार जीवन में आता ही है; चाहे सहजभाव से आवे, चाहे उपसर्गादि कारणों से आवे; बस उसे सहज भाव से स्वीकार करना है। उसमें हमें कुछ करना नहीं है; वह तो जीवन के समान ही सहज है।

हम जीने के लिये तो सदा तैयार हैं ही; मरने के लिये भी हमें सहजभाव से तैयार रहना है।

अतिचारों की चर्चा में जीने की इच्छा के समान मरण की इच्छा को भी समाधिमरण का अतिचार कहा है।

हमारी भावना तो ऐसी होनी चाहिये कि –

"चाहे लाखों वर्षों तक जीऊँ, चाहे मृत्यु आज ही आ जावे।"

जिससे बचाव सम्भव न हो, ऐसी मृत्यु का अवसर आ जाय तो बिना खेदखिन्न हुये उसे सहजभाव से स्वीकार कर लेना ही समाधि मरण है, सल्लेखना है।

न तो मृत्यु को आमंत्रण देना ही समझदारी है और न आपतित मृत्यु से घबड़ाना, हर स्थिति को सहजभाव से स्वीकार करना ही समाधिमरण है, सल्लेखना है।

प्रश्न – एक ओर तो आप यह कहते हैं कि जबतक समागत बीमारी का इलाज संभव हो, आपत्ति का प्रतिकार संभव हो; तबतक समाधिमरण नहीं लेना चाहिये। पहले इलाज पर ध्यान दें, प्रतिकार पर ध्यान दें। जब स्थिति काबू के बाहर हो जाय और मरण अवश्यंभावी दिखे, तब समाधिमरण व्रत लेना चाहिये। यह तो एक प्रकार से जीने की ही इच्छा हुई।

इसीप्रकार जब मरण का ही व्रत ले लिया और क्रमशः भोजनादि का त्याग करना भी आरंभ कर दिया तो क्या यह मरण की भावना नहीं है? यदि है तो फिर आप जीने की इच्छा को और मरने की इच्छा को अतिचार क्यों कहते हैं?

उत्तर – बहुत कुछ प्रयास करने के बाद जब आप इस निर्णय पर पहुँच गये कि अब बचना संभव नहीं है; तब तो आपने यह व्रत लिया है और अब जीवन की चाह होगी तो चित्त विभक्त होगा। चित्त का विभक्त होना ठीक नहीं। **विभक्तचित्त से किया गया कोई भी कार्य सफल नहीं होता।**

इसीप्रकार अत्यधिक पीड़ा के कारण जल्दी मृत्यु की कामना करना भी सहज जीवन और सहज मरणव्रत की सहज स्वीकृति नहीं है। अतः इन्हें अतिचार कहा है।

यह अज्ञानी जगत स्त्री-पुत्र, माँ-बाप, भाई-बहिन आदि चेतन परिग्रह एवं रुपया-पैसा, मकान-जायजाद आदि अचेतन परिग्रह तथा मुख्य रूप से शरीर को अपना माने बैठा है, उक्त संयोगों में ही रचा-पचा है। उन्हें जोड़ने और उनकी रक्षा करने में लगा है।

यदि इनमें से एक व्यक्ति या एक वस्तु का वियोग हो जाता है तो भी यह आकुल-व्याकुल हो जाता है। **मरण तो समस्त चेतन-अचेतन संयोगों के एक साथ वियोग का नाम है। अतः इस मरण का नाम सुनते ही अनन्त आकुल-व्याकुल हो जाना इस अज्ञानी जगत का सहज स्वरूप है।**

इस अज्ञानी जगत को मृत्यु में अपना सर्वनाश दिखाई देता है; इसलिये वह इसका नाम सुनते ही आकुल-व्याकुल होने लगता है।

इस अनित्य और अशरण जगत में इसे कोई शरण दिखाई नहीं देता। कोई ऐसा व्यक्ति दिखाई नहीं देता जो इसे मृत्यु से बचा ले।

"**मरणं प्रकृति शरीरिणाम् –** प्राणियों का मरना प्रकृति है, प्राकृतिक स्वभाव है।" महाकवि कालिदास की उक्त सूक्ति के अनुसार मरना प्रकृति है। अतः मृत्यु आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों अवश्य होगी, बरसों टलने वाली नहीं है।

उक्त संयोगों में एकत्व के कारण, अपनेपन की मिथ्या मान्यता के कारण यह अज्ञानी जगत अनन्त दुखी है और यदि अपनी यह **मान्यता भविष्य में भी नहीं सुधारी तो अनन्त काल तक दुखी ही रहेगा।**

संयोगों का वियोग रोकना तो संभव नहीं है। अतः एकमात्र यही उपाय शेष रहता है कि जगत में जो कुछ भी जिस समय हो रहा है; हम उसके सहज ज्ञाता-दृष्टा रहें। न यह चाहें कि मैं न मरूँ, कभी न मरूँ और न यह चाहे कि मैं शीघ्र ही मर जाऊँ।

अनन्त सुख देने वाली सच्ची मान्यता तो यही है कि यदि मृत्यु का अवसर आ गया है, तो मरने के लिये तैयार और जीवित रहने की सहज अनुकूलता हो तो जीने के लिये तैयार। इसी का नाम समाधिमरण है।

समाधिमरण में न जीने की चाह है और न मरने की चाह है।

प्रश्न – सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना तो कोई नहीं चाहता। फिर भी आप कहते हैं कि मरने की इच्छा नहीं करना, शीघ्र मरने की इच्छा नहीं करना। मरने की इच्छा क्यों नहीं करना? मरने के लिये ही तो समाधिमरण लिया है।

उत्तर – मरने के लिये समाधिमरण नहीं लिया जाता। मरने से तो बचने के उपाय किये जाते हैं। **जब जीने का कोई उपाय नहीं बचता, तब समाधिमरण लिया जाता है।**

जब समाधिमरण ले ही लिया तो फिर जीने की आकांक्षा उचित नहीं है, आकुलता का ही कारण है। इसलिये लिखा है कि जीने की इच्छा भी नहीं रखना।

बहुत कष्ट होने पर कभी-कभी शीघ्र मर जाने का भाव होता है। बहुत से लोगों को यह कहते आपने सुना होगा कि बहुत कष्ट हैं। जल्दी मौत आ जाये तो अच्छा है।

जगत के सहज परिणमन को सहज ही होने देना श्रेष्ठ है। उसमें कुछ फेरफार तो हम कर ही नहीं सकते, फेरफार करने की भावना भी नहीं रखना चाहिये - यहाँ तो यह कहा जा रहा है।

ज्ञानी जीवों का तो जीवन भी समाधिमय होता है मरण भी समाधिमय। वह तो श्रद्धा की अपेक्षा सदा समाधिमय ही होता है।

समाधिमरण मरने का व्रत नहीं है। आयु के अन्त में जब सहज भाव से मृत्यु नजदीक हो, अत्यन्त नजदीक हो तो **शान्ति से मरण को स्वीकार करना समाधिमरण है।**

ध्यान रहे **जो अनिवार्य है, उसी को सहज भाव से स्वीकार किया जाता है समाधिमरण में। यह न जीने का व्रत है और न मरने का व्रत है; यह तो सहजभाव से जो हो रहा है, उसे ही सहज भाव से स्वीकार करने का व्रत है।**

समाधिमरण और सल्लेखना पर लिखने वाले मनीषियों ने आरम्भ में समाधिमरण और सल्लेखना का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त सल्लेखना धारण करनेवालों को या स्वयं के मन को यह समझाने का प्रयास किया है कि मृत्यु से डरो मत। यह मृत्यु तो तुम्हें इस तनरूपी कारागृह (जेल) से छुड़ाने वाली है। यदि मृत्यु न होती तो तुम्हें इस सड़े-गले शरीर से कौन छुड़ाता?

पण्डित टोडरमलजी के सुपुत्र गुमानीरामजी वैराग्य रस से ओत-प्रोत एवं अध्यात्मरस के रसिया विद्वान् थे। उन्होंने तत्कालीन गद्य में समाधिमरण का स्वरूप लिखा है। वह मूलतः स्वाध्याय करने योग्य है।

समाधि के इच्छुक मनुष्यों को उसका स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये। उसमें उन्होंने यह सब लिखा है कि स्वयं को, तथा माता-पिता, पत्नी-पुत्र आदि को क्या समझाना चाहिये, कैसे समझाना चाहिये?

इसमें आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार की चरणानुयोगसूचक चूलिका की शैली की झलक दिखती है।

प्रवचनसार और उसकी तत्त्वप्रदीपिका टीका में दीक्षा लेने के लिये तैयार व्यक्ति अपने परिजन और पुरजनों को किसप्रकार समझावे – इसका नमूना दिया है; जो इसप्रकार है –

"वह बन्धुवर्ग से इसप्रकार पूछता है, विदा लेता है कि अहो! इस पुरुष के शरीर के **बन्धुवर्ग में प्रवर्तमान आत्माओ!** इस पुरुष का आत्मा किंचित्मात्र भी तुम्हारा नहीं है – इसप्रकार तुम निश्चय से जानो।

इसलिए मैं तुमसे विदा लेता हूँ। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है – ऐसा यह आत्मा आज अपने आत्मारूपी **अनादि बन्धु के पास जा रहा है।**

अहो! इस पुरुष के शरीर के **जनक (पिता) के आत्मा!** अहो! इस पुरुष के शरीर की **जननी (माता) के आत्मा!** इस पुरुष का आत्मा तुम्हारे द्वारा जनित (उत्पन्न) नहीं है – ऐसा तुम निश्चय से जानो।

इसलिए तुम इस आत्मा को छोड़ो। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है – ऐसा यह आत्मा आज अपने **आत्मारूपी जनक के पास जा रहा है, आत्मारूपी जननी के पास जा रहा है।**

अहो! इस पुरुष के शरीर की **रमणी (स्त्री) के आत्मा!** तुम इस पुरुष के आत्मा को रमण नहीं कराते – ऐसा तुम निश्चय से जानो।

इसलिए तुम इस आत्मा को छोड़ो। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है – ऐसा यह आत्मा आज अपनी **स्वानुभूतिरूपी अनादि–रमणी के पास जा रहा है।**

अहो! इस पुरुष के **शरीर के पुत्र के आत्मा!** तू इस पुरुष के आत्मा का जन्य (उत्पन्न किया गया पुत्र) नहीं है – ऐसा तुम निश्चय से जानो।

इसलिए तुम इस आत्मा को छोड़ो। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है – ऐसा यह आत्मा आज अपने **आत्मारूपी अनादि–जन्य (पुत्र) के पास जा रहा है।**

इसप्रकार यह दीक्षार्थी आत्मा, माता-पिता आदि बड़े-बूढ़ों से और स्त्री-पुत्रादि से स्वयं को छुड़ाता है।[१]''

इतना विशेष है कि प्रवचनसार में मुनिदीक्षा लेनेवाला अपने परिजनों से विदा लेता है और पण्डित गुमानीरामजी के मृत्यु महोत्सव में सल्लेखना लेने वाला अपने परिजनों से स्वयं को छुड़ाता है।

पण्डित गुमानीरामजी भी माता-पिता, स्त्री-पुत्रादि को इसीप्रकार संबोधित करते हैं; जो मूलतः पठनीय है।

उक्त मृत्यु महोत्सव के कतिपय महत्त्वपूर्ण अंश इसप्रकार हैं -

''समाधि नाम निःकषाय का है, शान्त परिणामों का है, कषाय रहित शांत परिणामों से मरण होना समाधिमरण है।[२]

वह (सम्यग्दृष्टि) अपने निज स्वरूप को वीतराग ज्ञाता-दृष्टा, पर द्रव्य से भिन्न, शाश्वत और अविनाशी जानता है और परद्रव्य को क्षणभंगुर, अशाश्वत, अपने स्वभाव से भलीभाँति भिन्न जानता है। इसलिये सम्यक्ज्ञानी मरण से कैसे डरें? वह ज्ञानी पुरुष मरण के समय इसप्रकार की भावना व विचार करता है -

मुझे ऐसे चिन्ह दिखाई देने लगे हैं जिनसे मालूम होता है कि अब इस शरीर की आयु थोड़ी है, इसलिये मुझे सावधान होना उचित है, इसमें (देर) विलम्ब करना उचित नहीं है।

अब इसके नाश का समय आ गया है। इस शरीर की आयु तुच्छ रह गई है और उसमें भी प्रति समय क्षण-क्षण कम हुआ जाता है; किन्तु मैं ज्ञाता दृष्टा हुआ इसके (शरीर का) नाश को देख रहा हूँ।

मैं इसका पड़ौसी हूँ न कि कर्त्ता या स्वामी। मैं देखता हूँ कि इस शरीर की आयु कैसे पूर्ण होती है और कैसे इसका (शरीर का) नाश होता है, यहाँ मैं **तमाशगीर की तरह** देख रहा हूँ।

---

१. प्रवचनसार, गाथा २०२ और टीका

२. मृत्यु महोत्सव, पृष्ठ-७३

देखो! इस अद्‌भुत चैतन्य स्वरूप की महिमा! उसके ज्ञानस्वभाव में समस्त ज्ञेय पदार्थ स्वयमेव झलकते हैं; किन्तु वह स्वयं ज्ञेयरूप नहीं परिणमता है और उस झलकने में (जानने में) विकल्प का अंश भी नहीं है। इसलिये उसके निर्विकल्प, अतीन्द्रिय, अनुपम, बाधा रहित और अखण्ड सुख उत्पन्न होता है। ऐसा सुख संसार में नहीं है, संसार में तो दुःख ही है; अज्ञानी जीव इस दुःख में भी सुख का अनुमान करते हैं, किन्तु वह सच्चा सुख नहीं है।[१]

'चैतन्यरूप कैसा है?' वह आकाश के समान निर्मल है, आकाश में किसी प्रकार का विकार नहीं है। बिल्कुल वह स्वच्छ निर्मल है।

यदि कोई आकाश को तलवार से तोड़ना, काटना चाहे या अग्नि से जलाना चाहे या पानी से गलाना चाहे तो वह आकाश कैसे तोड़ा, काटा जावे या जले या गले? उसका बिल्कुल नाश नहीं हो सकता। यदि कोई आकाश को पकड़ना या तोड़ना चाहे तो वह पकड़ा या तोड़ा नहीं जा सकता।

वैसे ही मैं भी **आकाश की तरह अमूर्तिक, निर्विकार, पूर्ण निर्मलता का पिण्ड हूँ।** मेरा नाश किस प्रकार हो? किसी भी प्रकार से नहीं हो, यह नियम है।

यदि आकाश का नाश हो तो मेरा भी हो, ऐसा जानना। किन्तु आकाश के और मेरे स्वभाव में इतना विशेष अन्तर है कि आकाश तो जड़ अमूर्तिक पदार्थ है और मैं चैतन्य अमूर्तिक पदार्थ हूँ।

मैं चैतन्य हूँ, इसीलिए ऐसा विचार करता हूँ कि आकाश जड़ है और मैं चैतन्य। मेरे द्वारा जानना प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है और आकाश नहीं जानता है।

'मैं कैसा हूँ।' मैं दर्पण की तरह स्वच्छ (स्वच्छत्व) शक्ति का ही पिण्ड हूँ। **दर्पण की स्वच्छ शक्ति में घट-पटादि पदार्थ स्वयमेव ही**

---

१. मृत्यु महोत्सव, पृष्ठ-७७

झलकते हैं। दर्पण में स्वच्छ (स्वच्छत्व) शक्ति व्याप्त रहती है वैसे ही मैं स्वच्छ शक्तिमय हूँ। मेरी स्वच्छ शक्ति में समस्त ज्ञेय पदार्थ स्वयमेव ही झलकते हैं। ऐसी स्वच्छ शक्ति मेरे स्वभाव में विद्यमान है।[१]

मनुष्य पर्याय में शुद्धोपयोग का साधक, ज्ञानाभ्यास का साधन और ज्ञान-वैराग्य की वृद्धि आदि अनेक गुणों की प्राप्ति होती है जो कि अन्य पर्याय में दुर्लभ है, किन्तु अपने संयमादि गुण रहते हुए शरीर रहे तो रहो, वह तो ठीक ही है। शरीर से हमारा कोई बैर तो है नहीं।

यदि शरीर रहे तो अपने संयमादि गुण निर्विघ्न रूप से रखना और शरीर से ममत्व छोड़ना चाहिए। **हमें शरीर के लिए संयमादि गुण कदाचित् भी नहीं खोने हैं।**[२]

मुझे दोनों ही तरह आनन्द है - शरीर रहेगा तो फिर शुद्धोपयोग की आराधना करूँगा और शरीर नहीं रहेगा तो परलोक में जाकर शुद्धोपयोग की आराधना करूँगा।

इसप्रकार दोनों ही स्थिति में मेरे शुद्धोपयोग के सेवन में कोई विघ्न नहीं दिखता है। इसलिए मेरे परिणामों में संक्लेश क्यों उत्पन्न हो?[३]"

पण्डित गुमानीरामजी के गद्य में प्रगट किये गये उक्त विचार, उनके गहरे अध्ययन और अध्यात्म की तीव्रतम रुचि को व्यक्त करते हैं।

वे एक गंभीर व्यक्तित्व के धनी महापुरुष थे। पण्डित टोडरमलजी के साथ जो कुछ भी घटित हुआ था, वह सब उन्होंने अपनी आँखों से देखा था। उसका गंभीर प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर पड़ा था।

उनकी इस कृति को आधार बनाकर पण्डित बुधजनजी ने पद्य में समाधिशतक नाम से एक कृति प्रस्तुत की है।

---

१. मृत्यु महोत्सव, पृष्ठ-७८-७९

१. वही, पृष्ठ-८१-८२

३. वही, पृष्ठ-८३

ये बुधजनजी वे ही हैं, जिन्होंने सबसे पहले छहढाला नामक कृति लिखी थी। जिसका उल्लेख पण्डित दौलतरामजी ने अपने छहढाला की प्रशस्ति में किया है।

बुधजनजी स्वयं लिखते हैं –

''देख गुमानीराम का, वचन रूप सुप्रबन्ध।
लघुमति ता संकोचि के, रचै सु दोहा छन्द।।
पिंगल व्याकरणादि कुछ, लखो नहीं मति बाल।
कंठ राखने के लिए, रचो बालवत ख्याल।।[1]

गुमानीरामजी का गद्य रूप ग्रन्थ देखकर मुझ अल्पबुद्धि ने बड़े ही संकोच के साथ दोहों (छन्दों) की रचना की है। व्याकरण, छन्द आदि मैंने कुछ नहीं देखे – ऐसे बालबुद्धि मैंने कंठस्थ रखने की सुविधा को ख्याल में रखकर बालबुद्धि से ये छन्द बनाये हैं।''

ध्यान रहे इसमें सभी छन्द दोहा नहीं हैं। दोहा शब्द का प्रयोग छन्द के अर्थ में हुआ है।

अब तक जीवन में यह होता था कि संयोग हमें छोड़कर चले जाते थे और अब मरण में संयोगों को छोड़कर हम जा रहे हैं।

जीवन में हम जहाँ के तहाँ रहते हैं और स्त्री–पुत्रादि संयोग हमें छोड़कर अन्यत्र जाते हैं तथा मरण में स्त्री–पुत्रादि सभी संयोग अपने स्थान पर रहते हैं और हम उन्हें छोड़कर चले जाते हैं।

बात तो एकसी ही है; तथापि अन्तर यह है कि जीवन में वे सभी एक साथ हमें नहीं छोड़ते थे; एक जाता है तो एक आता भी है, माता-पिता जाते हैं तो पुत्र–पुत्रियाँ आती हैं। वियोग का दुख तो तब भी होता ही है, पर एक साथ नहीं, एक–एक का धीरे–धीरे।

पर मरण में सभी संयोग एक साथ छूटते हैं; इसलिये बात कुछ अलग हो जाती है।

१. मृत्यु महोत्सव, पृष्ठ–१२०

यद्यपि इस भव के सभी संयोग छूट रहे हैं; तथापि अगले भव के सभी संयोग एकदम तैयार हैं। **हो सकता है हमारे पुण्य के योग से वे इनसे भी अच्छे हों; पर हमें पता नहीं है न। इसलिये दुःख कुछ ज्यादा ही होता है।**

यदि हमारा जीवन शुद्ध–सात्विक रहा है, पवित्र रहा है, धर्ममय रहा है तो आगामी संयोग गारन्टी से वर्तमान संयोगों से अच्छे होंगे और इन्हें छोड़े बिना वे मिलेंगे भी नहीं; अतः वर्तमान संयोगों को छोड़ने में संकोच नहीं करना चाहिये। पर एकत्व–ममत्व के कारण हमसे वर्तमान संयोग छोड़े नहीं जाते। ध्यान रहे **बिना मरे तो स्वर्ग मिलने वाला है नहीं। यदि स्वर्ग चाहिये तो इन्हें छोड़ने के लिये तैयार रहना ही होगा।**

उक्त सन्दर्भ में कविवर सूरचन्द्रजी के विचार दृष्टव्य हैं –

''मृत्यु मित्र उपकारी तेरो, इस अवसर के माहीं।
जीरन तन से देत नयो यह, या सम साहू नाहीं।।
या सेती इस मृत्यु समय पर, उत्सव अति ही कीजै।
क्लेश भाव को त्याग सयाने, समताभाव धरीजै।।
जो तुम पूरव पुण्य किये हैं, तिनको फल सुखदाई।
मृत्यु मित्र बिन कौन दिखावै, स्वर्ग संपदा भाई।।[१]

इस अवसर पर मृत्युरूपी मित्र तेरा उपकारी है। जीर्ण–शीर्ण शरीर के बदले एकदम नया शरीर देता है। इसके समान उपकारी साहूकार और कोई नहीं है।

इसलिये इस मृत्यु के अवसर पर उत्सव करना चाहिये। क्लेश भाव को त्यागकर समताभाव धारण करना चाहिये।

पूर्व काल में जो पुण्य आपने किये हैं; उनका सुख देनेवाला फल जो स्वर्ग की सम्पत्ति; वह मृत्यु के बिना कैसे प्राप्त होगी? इसलिये हे भाई! इस मृत्यु को स्वर्ग की सम्पदा दिलाने वाला मित्र समझो।''

---

१. समाधि और सल्लेखना, पृष्ठ–४२

अरे भाई! वर्तमान परिवार व देह को छोड़े बिना तो मुक्ति भी प्राप्त नहीं होती। यदि इसी देह और परिकर से चिपटे रहोगे तो मोक्ष या स्वर्ग कुछ भी नहीं मिलेगा। अतः समझदारी इसी में है कि समाधिमरण के माध्यम से इस ट्रांसफर (देह परिवर्तन के कार्य) को सहज ही स्वीकार कर लीजिये।

ज्ञानी धर्मात्माओं को तो मृत्यु सहज है। कोई बड़ी बात नहीं है। क्योंकि उन्हें तो पक्का भरोसा है कि यदि ये संयोग छूट रहे हैं तो भविष्य में इनसे अच्छे संयोग मिलेंगे।

दूसरे उन्हें संयोगों की विशेष चाह भी नहीं है। उनके लिये तो यह परिवर्तन साधारण सी घटना है; परन्तु इस **अज्ञानी जगत को इनमें अपनत्व होने से इनके वियोग की कल्पना भी बहुत आकुल-व्याकुल कर देती है।**

दूसरे अज्ञानीजनों को अपने पुण्य पर भी भरोसा नहीं है। उन्होंने अच्छे भाव रखे ही नहीं तो फिर पुण्य भी आयेगा कहाँ से? उन्हें लगता है – एकबार ये संयोग छूटे तो न मालूम नरक-निगोद में कहाँ जाना होगा। अतः वे इन्हीं संयोगों से चिपटे रहना चाहते हैं। **संयोगों के प्रति अत्यधिक आसक्ति ही मरणभय का मूल कारण है।**

यदि संयोगों में रंचमात्र भी अपनापन न हो तो फिर आत्मा का गया ही क्या है; क्योंकि आत्मा के असंख्य प्रदेश और अनन्त गुण तो उसके साथ ही जाते हैं।

जिन संयोगों के प्रति अपनापन नहीं होता, उनका कुछ भी हुआ करें, हमें कोई अन्तर नहीं पड़ता; परन्तु जिन संयोगों में अपनापन हो जाता है, उनके वियोग में दुख होता है। अतः यह निश्चित हुआ कि **पर में अपनापन ही अनन्त दुख का कारण है।**

वर्तमान संयोग भी हमारे पुण्य-पाप के उदय के अनुसार प्राप्त हुये हैं और अगले भव के संयोग भी हमारे पुण्य-पाप के उदय के अनुसार

ही मिलने वाले हैं। क्या अन्तर है – इन दोनों में। बस बात इतनी सी ही है कि वर्तमान संयोग दिखाई दे रहे हैं और भविष्य के संयोग अभी सामने उपस्थित नहीं हैं। पर **ज्ञानीजनों को तो संयोगों में विशेष रस होता ही नहीं है। सहजभाव से जब जो संयोग जैसा उपलब्ध हो गया; तब तैसा वीतराग भाव से स्वीकार कर लेते हैं।**

जीवों का यह सहज स्वभाव भी है ही कि जो जहाँ जैसे संयोगों में पहुँच जाता है; वहीं रम जाता है। ज्ञानीजनों के तो सम्पूर्ण वस्तुस्थिति हाथ पर रखे आँवले के समान अत्यन्त स्पष्ट है। एक तो संयोगों का स्वरूप स्पष्ट है और दूसरे उनमें कोई रस नहीं है; अतः जगत में जहाँ, जो, जैसा होता है; हुआ करें, उन्हें कुछ भी विकल्प नहीं है।

अतः जैसा यह भव, वैसा ही आगामी भव, क्या अन्तर पड़ता है? जब अन्तर में भव के भाव का अभाव हो गया है तो फिर किस भव में क्या है? इससे क्या फरक पड़ता है?

मृत्यु उनकी दृष्टि में अत्यन्त साधारण सा परिवर्तन है, जिसमें जानने जैसा कुछ भी नहीं है।

जिस व्यक्ति को लड़का और लड़की में कोई अन्तर दिखाई नहीं देता; उसे यह जानने में क्या रस हो सकता है कि मेरी पत्नी के गर्भ में बच्चा है या बच्ची। जो भी हो सो ठीक है।

इसीप्रकार जिसे अगले भव में कोई च्वाइस नहीं है; उसे यह जानने में क्या रस हो सकता है कि मैं कहाँ जाऊँगा?

जहाँ जाऊँगा, चला जाऊँगा। इसमें या उसमें उसे क्या फरक पड़ता है, एक दो भव आगे-पीछे में भी क्या फरक पड़ता है; क्योंकि अब **ज्ञानियों को अनन्तकाल तक तो संसार में रहना ही नहीं है।**

एक भाई ने मुझसे पूँछा – आप कहाँ जायेंगे? मेरी समझ में कुछ नहीं आया तो उन्होंने स्पष्ट किया कि अगले भव में।

मैंने सहज ही कहा – मुझे एक-दो भव में कोई रुचि नहीं है। जहाँ जाऊँगा, चला जाऊँगा। मुझे इसका कोई विकल्प नहीं है।

सच्ची बात तो यह है कि मुझे किसी भव में रस नहीं है। भव या भव का भाव रस रखने लायक है भी नहीं। इस संसार में कोई भव रहने लायक है क्या? नहीं, तो बात खतम। **यह चर्चा तो भव की चर्चा है, भव के अभाव की नहीं। मुझे भव की चर्चा में कोई रस नहीं।**

किसी भव की चाह को तो निदान कहते हैं। निदान सल्लेखना के पाँच अतिचारों में गिनाया है। मुझे किसी विशेष संयोग में कोई रस नहीं है। एक बात तो यह है कि **मुझे संयोगों में ही रस नहीं है, किसी विशेष संयोग में तो बिल्कुल नहीं।**

मुझे तो मात्र मुझमें ही रस है, असंयोगी तत्त्व में रस है। सो वह असंयोगी तत्त्व तो मैं ही हूँ। **जितना रस संयोगों में रहेगा; उतना रस निज भगवान आत्मा में कम हो जायेगा।**

लोग बार-बार जानना चाहते हैं कि जब तक संसार में रहना है, तब तक आप कहाँ रहना पसन्द करेंगे?

पर, भाई! मुझे संसार में रहना ही नहीं है। जहाँ मुझे रहना ही नहीं है; उसके बारे में आप पूछ रहे हैं कि वहाँ आप कहाँ रहना चाहेंगे?

मजबूरी में महात्मा गाँधी की सूक्ति के अनुसार मजबूरी में जहाँ रहना होगा, वहीं रह लेंगे। उसमें चाह का क्या सवाल है?

मुझे तो मुझ में ही रहना है, मात्र मुझमें ही रहना है। सो मैं मुझमें तो हूँ ही; उसमें क्या रहना?

जहाँ तक संयोगों की बात है। सो क्रमबद्धपर्याय और पूर्वकर्मोदय के अनुसार जब जहाँ रहना होगा, सहज भाव से रह लेंगे, उसमें मीनमेख करने की आदत मेरी नहीं है।

न हमें यह भव बिगाड़ना है और न इसे संभालना है। **जिसमें हमें कोई रस नहीं है; उसे क्या बनाना और क्या बिगाड़ना?**

भव तो भव है, उसमें क्या बनना और क्या बिगड़ना? भव में अच्छे-बुरे का भेद करना उचित नहीं है; क्योंकि जब कोई भव अच्छा है ही नहीं तो उसमें अच्छे-बुरे के भेद में उलझने में समय और शक्ति का व्यर्थ अपव्यय करना समझदारी नहीं है।

जब मैंने समताभाव ही धारण कर लिया, समाधि ही ले ली; तब अब भव में अच्छे-बुरे का भेद करने से क्या लाभ है?

अरे, भाई! जब हम भव से मुक्त होने के लिये ही निकले हैं, तब भव में चुनाव करने में क्यों उलझेंगे? हमने तो स्वयं को चुन लिया; अतः पर में से कुछ चुनने का क्या सवाल है?

बहुत लोग कहते हैं कि हम तो अपने गुरुदेव के साथ ही मोक्ष जायेंगे।

अरे, भाई! साथ की भावना मोक्ष का मार्ग नहीं है; मोक्ष का मार्ग तो एकत्व (अकेलेपन) की भावना है, अन्यत्व (पर से भिन्नत्व) की भावना है।

यदि गुरुदेव स्वयं के पुण्य के प्रभाव से सागरों लम्बी आयुवाले देव हो गये तो क्या तुम भी उनके साथ मोक्ष जाने की भावना से सागरों पर्यन्त संसार में रहने को तैयार हो?

हम तो इतना लम्बा इन्तजार करने के लिये तैयार नहीं हैं।

इसका अर्थ तो यह हुआ कि आप ऊँचे से ऊँचे स्वर्ग में भी जाने को तैयार नहीं है?

यह बात तो अत्यन्त स्पष्ट है कि हम सागरों पर्यन्त संसार में रहने को तैयार नहीं हैं, रहने की भावना वाले नहीं हैं।

यदि समाधिमरण के बाद ऊँचे स्वर्ग में चले गये तो क्या करोगे?

जब तक संसार में रहना होगा, तब तक क्रमबद्धपर्यायानुसार जैसे रहना होगा, रहेंगे; पर हमारी भावना सागरों पर्यन्त संसार में रहने की कदापि नहीं है।

भगवान आदिनाथ और भरत चक्रवर्ती तो पिछले भव में सर्वार्थसिद्धि में तैतीस सागर तक रहे थे।

हाँ, रहे थे; पर वे भी सागरों पर्यन्त संसार में रहने की भावना वाले नहीं थे। **धर्म भावुकता में नहीं है, विवेक में है। विवेक संगत बात तो यही है कि कोई भी ज्ञानी सागरों पर्यन्त संसार में रहने की भावना वाला नहीं होता।**

यदि हमें भी रहना होगा तो हम भी रहेंगे ही; पर हमारी भावना ऐसी नहीं है।

हमने तो बड़े-बड़े ज्ञानियों को ऐसा कहते सुना है कि हम तो गुरुदेव श्री के साथ ही मोक्ष जायेंगे?

सुना होगा; पर वे भावुकता के क्षणों में ऐसा कह गये होंगे। उक्त कथन को व्यवहार वचन ही समझना चाहिये।

बहुत से लोग पूरे कुटुम्ब-परिवार के साथ मोक्ष जाना चाहते हैं।

उनके लिये तो मैंने बहुत पहले लिखा था कि –

ले दौलत प्राण प्रिया को तुम मुक्ति न जाने पावोगे।
यदि एकाकी चल पड़े नहीं तो यही खड़े रह जावोगे।।

मोक्षमार्ग तो अकेलेपन का मार्ग है। इसमें साथ का क्या काम? **साथ की भावना तो राग की भावना है और जैनदर्शन वीतराग भावरूप हैं।**

यह तो आप जानते ही होंगे कि संघ में रहनेवाले मुनिराजों से एकल विहारी मुनिराज अधिक महान होते हैं। उनकी महानता के

आधार पर ही उन्हें एकल विहारी होने की अनुमति मिलती है। **तद्भव मोक्षगामी मुनिराज ही मुख्य रूप से एकल विहारी होते हैं।**

भावना के उद्वेग का नाम समाधि नहीं है; अपितु **विवेक पूर्वक वीतरागभाव की वृद्धि ही समाधि है।**

स्वयं उपस्थित अनिवार्य मृत्यु के अवसर पर समताभावपूर्वक आकुल हुये बिना शान्ति से देहपरिवर्तन के लिये तैयार रहना ही समाधि है। ऐसी समाधिपूर्वक होने वाले मरण को समाधिमरण कहते हैं।

समाधिमरण में सहजता है। न विशेष जीने की भावना है और न जल्दी मरने की भावना है। एकदम सहजता है। जीवन भी सहज, मृत्यु भी सहज। न इस भव सम्बन्धी विशेष विकल्प हैं, न आगामी भव सम्बन्धी।

छूटने वाले संयोग सहजभाव से स्वसमय में छूट रहे हैं और आने वाले संयोग यथासमय आ जायेंगे, मिल जायेंगे। हम तो सभी के सहज ज्ञाता-दृष्टा हैं और रहेंगे। इसप्रकार का वीतरागभाव ही समाधि मरण हैं, सल्लेखना है।

देह परिवर्तन का यह प्रसंग न शोक का प्रसंग है, न हर्ष का। यह जीवन की एक अनिवार्य किन्तु सहज घटना है; जो यथासमय घट जाती है। इसे सहज रूप से स्वीकार करना ही समझदारी है।

●

सल्लेखना का प्रायोगिक स्वरूप

समाधिमरण और सल्लेखना के स्वरूप पर विचार करने के उपरान्त अब सल्लेखना के प्रायोगिक स्वरूप पर विचार करते हैं।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं –

''**आहारं परिहाय क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम्।**
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः ।।१२७।।
खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत् सर्वयत्नेन ।।१२८।।

आहार को छोड़कर क्रमशः स्निग्ध छाछ को बढ़ावे, फिर छाछ छोड़कर गर्मजल बढ़ावे। अन्त में गर्म जल को भी छोड़कर शक्ति अनुसार एक–दो उपवास करते हुये पंचनमस्कार मंत्र आदि का स्मरण करते हुये सावधानीपूर्वक देह का परित्याग करें।''

मैं आचार्य श्री विद्यानन्दजी महाराज के पास गया। उन्हें पुस्तक भेंट की और कहा कि महाराज मैं भी सल्लेखना की तैयारी कर रहा हूँ।

उन्होंने छूटते ही कहा – जल का त्याग नहीं कर देना, जल का त्याग करने में जल्दी नहीं करना।

अपनी बात की पुष्टी में कहा – भगवती आराधना की विजयोदया टीका में लिखा है। उसे ध्यान से पढ़ना।

सामान्य सल्लेखनाधारियों के आहार–पानी आदि त्याग करने सम्बन्धी मार्गदर्शन, जो आगम में प्राप्त होता है; वह इसप्रकार है –

''असमर्थ श्रावकों के लिए भक्त प्रत्याख्यान की सामान्य विधि –

धरिऊण वत्थमेत्तं, परिग्गहं छंडिऊण अवसेसं।
सगिहे जिणालए वा, तिविहाहारस्स वोसरणं ।।२७१।।
जं कुणइ गुरुसयासम्मि, सम्ममालोइऊण तिविहेण।
सल्लेखणं चउत्थं, सुत्ते सिक्खावयं भणियं ।।२७२।।

–(आचार्य वसुनन्दि, वसुनन्दि श्रावकाचार, २७१–२७२)

वस्त्र मात्र परिग्रह को रखकर और अवशिष्ट समस्त परिग्रह को छोड़कर, अपने ही घर में अथवा जिनालय में रहकर, जो श्रावक, गुरु के समीप मन–वचन–काय से अपनी भले प्रकार आलोचना करके, पान (जल) के सिवाय शेष तीन प्रकार के आहार का (खाद्य, स्वाद्य और लेह्य – इन तीन का) त्याग करता है; उसे उपासकाध्ययन सूत्र में सल्लेखना नाम का चौथा शिक्षाव्रत कहा गया है।। २७१–२७२।।

व्याध्याद्यपेक्षयाम्भो वा, समाध्यर्थं विकल्पयेत।
भृशं शक्तिक्षये जह्यात्, तदप्यासन्नमृत्युकः।।६६।।

–(पण्डितप्रवर आशाधर, सागार धर्मामृत, ८/६६)

व्याधि आदि की अपेक्षा से समाधि में निश्चल होने के लिए उस साधक को गुरु की आज्ञानुसार अथवा स्वविवेक से केवल पानी पीने की प्रतिज्ञा रख लेनी चाहिए और मृत्यु का समय निकट आने पर, जब शरीर की शक्ति अत्यन्त क्षीण हो जाए, तब उसे जल का भी त्याग कर देना चाहिए।

'यदि साधक को पित्त सम्बन्धी रोग है अथवा ग्रीष्म आदि ॠतु है, मरुस्थल आदि का प्रदेश है या पित्त प्रकृति है अथवा इसीप्रकार का तृष्णा परीषह के उद्रेक को सहन न कर सकने का कोई कारण हो तो 'मैं पानी का उपयोग करूँगा' इसप्रकार का प्रत्याख्यान (त्याग) स्वीकार करे; क्योंकि उसके बिना उसकी समाधि सम्भव नहीं होगी।

जब उसकी शक्ति अत्यन्त क्षीण हो जाये और मरण निकट हो तो साधक उस जल का भी त्याग कर दे।। ६६ ।।

-(सागार धर्मामृत, भारतीय ज्ञानपीठ, पृष्ठ ३३६)

मृत्यु का संशय या निश्चय होने की अपेक्षा भक्त प्रत्याख्यान विधि -

एदम्हि देसयाले, उवक्कमो जीविदस्स जदि मज्झं।
एदं पच्चक्खाणं, णित्थिण्णे पारणा हुज्ज।।११२।।
सव्वं आहारविहिं, पच्चक्खामि य पाणयं वज्ज।
उवहिं च वोसरामि य, दुविहं तिविहेण सावज्जं।।११३।।
जो कोइ मज्झ उवधी, सब्भंतरबाहिरो य हवे।
आहारं च सरीरं, जावज्जीवं य वोसरे।।११४।।

-(आचार्य वट्टकेर, मूलाचार, ११२-११४)

जीवित रहने में सन्देह होने की अवस्था में ऐसा विचार करें कि इस देश में, इस काल में मेरा जीने का सद्भाव रहेगा तो ऐसा त्याग है कि जब तक उपसर्ग रहेगा, तब तक आहारादिक का त्याग है।

उपसर्ग दूर होने के पश्चात् यदि जीवित रहा तो फिर पारणा करूँगा।। ११२ ।।

यदि निश्चय हो जाए कि इस उपसर्गादि में मैं नहीं जी सकूँगा, वहाँ ऐसा त्याग करें कि मैं जल को छोड़कर, अन्य तीन प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ; बाह्य और अभ्यन्तर, दोनों प्रकार के परिग्रह तथा मन-वचन-काय की पाप-क्रियाओं को छोड़ता हूँ।। ११३ ।।

जो कुछ मेरे अभ्यन्तर-बाह्य परिग्रह है, उसे तथा चारों प्रकार के आहार को और अपने शरीर को यावज्जीवन छोड़ता हूँ, यही उत्तमार्थ त्याग है।। ११४ ।।[1]"

1. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 4, पृष्ठ 388

यदि कोई योग्य गुरु, निर्यापक या इस प्रकरण का विशेष जानकार उपलब्ध हो तो उनकी सलाह से या स्वयं के अध्ययन के आधार से सभी निर्णय यथासमय कर लेने चाहिये।

इसबात का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है कि अपने परिणाम अन्त तक शुद्ध रहें, विशुद्ध रहें; संक्लेशरूप न हो।

जलादि के त्याग में ऐसी जल्दी नहीं करें कि जिसके परिणामस्वरूप अपने परिणाम विचलित हो जायें; क्योंकि परिणाम विचलित होने पर प्रतिज्ञा तो भंग हो ही जाती है।

यदि कठोरता रखने से काया की क्रिया में विकृति नहीं भी हुई तो आत्मा का क्या बचा, परिणाम तो विचलित हो ही गये।

पानी-पानी के विकल्प से परिणमित उस सेठ के पानी नहीं पीने पर भी व्रत तो भंग हो ही गया था। यदि व्रत भंग नहीं हुआ - ऐसा माने तो फिर वह सेठ बावड़ी में मेंढ़क क्यों हुआ, तिर्यंच गति में क्यों गया?

क्रिया की संभाल से अधिक महत्वपूर्ण परिणामों की संभाल है - इस बात को कभी नहीं भूलना चाहिये।

सबसे बढ़िया बात तो यही है कि क्रिया और परिणाम दोनों ठीक रहें, पर यदि क्रिया की थोड़ी बहुत शिथिलता में परिणाम विशुद्ध बने रहें तो हमने बहुत कुछ बचा लिया समझो। क्रिया के चक्कर में यदि परिणाम विकृत हो गये, विचलित हो गये तो हम सब कुछ खो देंगे।

तात्पर्य यह है कि छोड़ा पानी पीलिया और उससे परिणाम विशुद्ध बने रहे, संक्लेश नहीं हुआ तो लाभ ही लाभ है।

अन्त समय में तो सबकुछ छोड़ना ही है; परन्तु जलादि के त्याग में जल्दी मचाने से बचना चाहिये। यही मार्गदर्शन दिया है आचार्य भगवन्तों ने।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड में सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्यश्री नेमिचन्द्र भक्तप्रत्याख्यान सल्लेखना का काल परिमाण बताते हुये लिखते हैं -

"भत्तपइण्णाइ-विहि, जहण्णमंतोमुहुत्तयं होदि।
वारिसवरिसा जेट्ठा, तम्मज्झे होदि मज्झिमया।।[१]

भक्त माने भोजन और प्रत्याख्यान माने त्याग। भक्तप्रत्याख्यान की प्रतिज्ञा करके जो संन्यासमरण (सल्लेखना) होता है; उसका जघन्य कालप्रमाण अन्तर्मुहूर्त मात्र है एवं उत्कृष्ट कालप्रमाण बारह वर्ष है। तथा अन्तर्मुहूर्त से लेकर बारह वर्ष पर्यंत जितने भी समयभेद हैं, वे सब सल्लेखना के मध्यमकाल के भेद जानने चाहिए।"

रत्नकरण्डश्रावकाचार पर वचनिका लिखने वाले विद्वान पंडित सदासुखदासजी अत्यन्त निर्मल परिणाम वाले सच्चे आत्मार्थी विद्वान थे। वे सल्लेखना के स्वरूप पर विचार करते हुये सल्लेखना के दो भेद करते हैं - १. काय सल्लेखना और

२. कषाय सल्लेखना।

काय सल्लेखना

काय सल्लेखना का स्वरूप स्पष्ट करते हुये पण्डित सदासुखदासजी लिखते हैं -

"अपनी आयु का शेष समय देखकर उसी के अनुसार देह से इंद्रियों से ममत्व रहित होकर आहार के स्वाद से विरक्त होकर क्रमशः काय सल्लेखना करता हुआ विचार करे -

हे आत्मन्! संसार परिभ्रमण करते हुए तूने इतना आहार किया है कि यदि एक-एक जन्म का एक-एक कण एकत्र करें तो अनन्त सुमेरु के बराबर हो जायें; तथा अनन्त जन्मों में इतना जल पिया है कि

१. आचार्य नेमिचन्द्र : गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ६०

यदि एक-एक जन्म की एक-एक बूँद इकट्ठा करें तो अनन्त समुद्र भर जायें। इतने आहार और जल से भी तू तृप्त नहीं हुआ है तो अब रोग-जरादि से प्रत्यक्ष मरण निकट आ गया है, अब इस समय में किंचित् आहार-जल से कैसे तृप्ति होगी?

इस पर्याय में भी जब से जन्म लिया है, तब से प्रतिदिन ही आहार ग्रहण करता आया है, आहार का लोभी होकर के ही घोर आरंभ किये हैं; आहार के लोभ से ही हिंसा, असत्य, परधन-लालसा, अब्रह्म व परिग्रह का बहुत संग्रह तथा दुर्ध्यान आदि द्वारा अनेक कुकर्म उपार्जन किये हैं।

आहार की गृद्धता से ही दीनवृत्ति से पराधीन हुआ। आहार का लोभी होकर भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार नहीं किया, रात्रि-दिन का विचार नहीं किया, योग्य-अयोग्य का विचार नहीं किया। आहार का लोभी होकर क्रोध, अभिमान, मायाचार, लोभ, याचना भी की। आहार की इच्छा करके अपना बड़ापना-स्वाभिमान नष्ट किया।

आहार का लोभी होकर के अनेक रोगों का घोर दुःख सहा, नीचजाति-नीचकुल वालों की सेवा की। आहार का लोभी होकर स्त्री के आधीन रहा, पुत्र के आधीन रहा।

आहार का लंपटी निर्लज्ज होता है, आचार-विचार रहित होता है, आपस में कट-कट कर मर जाता है, दुर्वचन सहता है। आहार के लिये ही तिर्यंचगति में परस्पर मार डालते हैं, भक्षण कर लेते हैं।

बहुत कहने से क्या? अब इस पर्याय में मुझे अल्प समय ही रहना है, आयु समाप्त होने को है, इसलिये रसों में गृद्धता छोड़कर, रसना इंद्रिय की लालसा छोड़कर यदि आहार का त्याग करने में उद्यमी नहीं होऊँगा तो व्रत, संयम, धर्म, यश, परलोक - इनको बिगाड़कर कुमरण करके संसार में ही परिभ्रमण करूँगा।

ऐसा निश्चय करके ही अतृप्ति करनेवाला आहार का त्याग करने के लिये किसी समय उपवास, कभी बेला, कभी तेला, कभी एक बार आहार करना, कभी नीरस आहार, कभी अल्प आहार इत्यादि क्रम से अपनी शक्ति अनुसार तथा आयु की शेष रही स्थिति प्रमाण आहार को घटाकर दुग्ध आदि ही पिये। फिर क्रम से दुग्ध आदि स्निग्ध पदार्थों का भी त्याग करके छांछ व गर्म जल आदि ही ग्रहण करे।

फिर क्रम से जलादि समस्त आहार का त्याग करके अपनी शक्ति प्रमाण उपवास करते हुए पंच परमेष्ठी में मन को लीन करते हुए धर्मध्यान रूप होकर बड़े यत्न से देह को त्यागना – उसे सल्लेखना जानना चाहिए।

इसप्रकार काय सल्लेखना का वर्णन किया।

अब यहाँ कोई प्रश्न करता है : यह आहारादि त्याग करके मरण करना तो आत्मघात है तथा आत्मघात करना अनुचित बताया है?

उसे उत्तर देते हैं – जिसके द्वारा बहुत समय तक अच्छी तरह से मुनिपना, श्रावकपना व महाव्रत-अणुव्रत पलते दिखाई दें; स्वाध्याय, ध्यान, दान, शील, तप, व्रत, उपवास आदि पलता हो; जिन पूजन, स्वाध्याय, धर्मोपदेश, धर्मश्रवण, चारों आराधनाओं का सेवन अच्छी तरह निर्विघ्न सधता हो; दुर्भिक्ष आदि का भय नहीं आया हो; शरीर में असाध्य रोग नहीं आया हो; स्मरण शक्ति व ज्ञान को नष्ट करनेवाला बुढ़ापा भी नहीं प्राप्त हुआ हो; दशलक्षण धर्म तथा रत्नत्रय धर्म देह से पलता हो **उसे आहार त्यागकर समाधिमरण करना योग्य नहीं है।**

जिससे धर्म सधता होने पर भी यदि वह आहार त्यागकर मरण करता है; तो वह धर्म से पराङ्मुख होकर त्याग, व्रत, शील, संयम आदि द्वारा मोक्ष की साधक उत्तम मनुष्य पर्याय से विरक्त हुआ अपनी

दीर्घ आयु होने पर भी व धर्म सेवन करते बनने पर भी आहारादि का त्याग करनेवाला आत्मघाती होता है।

भगवान की ऐसी आज्ञा है कि धर्म संयुक्त शरीर की बड़े यत्न से रक्षा करना चाहिये। यदि धर्म सेवन की सहकारी इस देह को आहार त्याग करके छोड़ देगा तो क्या नारकी–तिर्यंचों की संयम रहित देह से व्रत–तप–संयम सधेगा? रत्नत्रय की साधक तो यह मनुष्य देह ही है। जो धर्म की साधक मनुष्य देह को आहारादि त्यागकर छोड़ देता है; उसका क्या कार्य सिद्ध होता है?

इस देह को त्यागने से हमारा क्या प्रयोजन सधेगा? व्रत–धर्म रहित और दूसरा नया शरीर धारण कर लेगा।

अनन्तानन्त देह धारण करवाने का बीज तो कर्ममय कार्मण देह है, उसको मिथ्यात्व, असंयम, कषायादि का त्याग करके नष्ट करो।

आहारादि का त्याग करने से तो औदारिक हाड़–मांसमय शरीर मरेगा, जो तुरन्त नया दूसरा प्राप्त हो जायेगा। जब अष्ट कर्ममय कार्मण देह मरेगा तब जन्ममरण से छूटोगे। अतः कर्ममय देह को मारने के लिये इस मनुष्य शरीर द्वारा त्याग–व्रत–संयम में दृढ़ता धारण करके आत्मा का कल्याण करो।

जब धर्म सधता नहीं दिखाई दे तब ममत्व छोड़कर अवश्य ही विनाशीक देह को त्याग देने में ममता नहीं करना।[१]''

उक्त कथन में पंडित सदासुखदासजी अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में आदेश दे रहे हैं कि जब तक इस देह में रहते हुये धर्मसाधन होता है, शरीर स्वस्थ है; तबतक किसी भी स्थिति में आहारादि का त्याग करके सल्लेखना लेना उचित नहीं है, अपितु आत्मघात ही है। आहारादि का त्याग करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये।

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार पृष्ठ ४४८ से ४५०

कषाय सल्लेखना

पण्डित सदासुखदासजी अब कषाय सल्लेखना की बात करते हैं -

"काय सल्लेखना की चर्चा के उपरान्त अब कषाय सल्लेखना की बात करते हैं -

जैसे तपश्चरण से काया को कृश किया जाता है; वैसे ही राग-द्वेष-मोहादि कषायों को भी साथ-साथ ही कृश करना वह कषाय सल्लेखना है। **बिना कषायों की सल्लेखना किये काय सल्लेखना व्यर्थ है।** काय का कृशपना तो रोगी, दरिद्री, पराधीनता से मिथ्यादृष्टि के भी हो जाता है। देह को कृश करने के साथ ही साथ राग-द्वेष-मोहादि को कृश करके, इसलोक-परलोक संबंधी समस्त वांछा का अभाव करके, देह के मरण में कुटुम्ब-परिग्रहादि समस्त पर द्रव्यों से ममता छोड़कर, परम वीतरागता से संयम सहित मरण करना वह कषाय सल्लेखना है।

यहाँ ऐसा विशेष जानना : जो विषय-कषायों को जीतनेवाला होगा; उसी में समाधिमरण करने की योग्यता है। विषयों के आधीन तथा कषाय युक्त के समाधिमरण नहीं होता है।

संसारी जीवों के ये विषय-कषाय बड़े प्रबल है, बड़े-बड़े सामर्थ्यधारियों द्वारा नहीं जीते जा पाते हैं। इन्होंने बड़े प्रबल बल के धारक चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र आदि को भ्रष्ट करके अपने आधीन किया है; अतः अत्यन्त प्रबल हैं।

संसार में जितने भी दुःख हैं; वे सभी विषयों के लम्पटी, अभिमानी तथा लोभी को होते हैं। कितने ही जीव जिनदीक्षा धारण करके भी विषयों की आताप से भ्रष्ट हो जाते हैं, अभिमान व लोभ नहीं छोड़ सकते हैं। अनादिकाल से विषयों की लालसा से लिप्त व कषायों से प्रज्वलित संसारी जीव अपने को भूलकर स्वरूप से भ्रष्ट हो रहे हैं।

विषय-कषायों से छूटकर वीतरागता कराने के लिये श्री भगवती आराधना जी शास्त्र में विषय-कषायों का स्वरूप विस्तार से परम निर्ग्रन्थ श्री शिवार्य नाम के आचार्य ने प्रकट दिखाया है।

वीतरागता के इच्छुक पुरुषों को ऐसा परम उपकार करनेवाले ग्रन्थ का निरन्तर अभ्यास करना चाहिये।

समाधिमरण के समय में जीव का कल्याण करनेवाला उपदेशरूप अमृत की सहस्रधारा रूप होकर वर्षा करता हुआ भगवती आराधना नाम का ग्रन्थ है, उसकी शरण अवश्य ग्रहण करने योग्य है। इसलिये यहाँ पर आराधनामरण (समाधिमरण) के कथन करने का अवसर पाकर भगवती आराधना के अर्थ का अंश लेकर लिख रहे हैं।

यहाँ ऐसा विशेष जानना : साधु (मुनियों) पुरुषों को तो रत्नत्रय धर्म की रक्षा करने में सहायक आचार्य आदि का संघ तथा वैयावृत्य करने वाले धर्म का उपदेश देनेवाले निर्यापकों की बड़ी सहायता प्राप्त हो जाती है। इसलिये **गृहस्थों को भी धर्मवृद्ध-श्रद्धानी-ज्ञानी साधर्मियों का समागम अवश्य बनाये रखना चाहिये। परन्तु यह पंचमकाल अति विषम है। इसमें तो विषयानुरागियों तथा कषायी जीवों का साथ मिलना सुलभ है; राग-द्वेष-शोक-भय उत्पन्न करानेवाले, आर्तध्यान बढ़ानेवाले, असंयम में प्रवृत्ति करानेवालों का ही साथ बन रहा है। स्त्री, पुत्र, मित्र, बांधव आदि सभी अपने राग-द्वेष विषयकषायों में लगाकर आत्मा को भुला देनेवाले हैं। सभी अपने विषय-कषाय पुष्ट करने के ही इच्छुक हैं।**

धर्मानुरागी, धर्मात्मा, परोपकारी, वात्सल्यता के धारी, करुणा रस से भीगे पुरुषों का संगम महा उज्ज्वल पुण्य के उदय से मिलता है; तथापि अपने पुरुषार्थ से उत्तम पुरुषों के उपदेश का संगम मिलाना चाहिये। स्नेह और मोह के जाल में उलझानेवाले धर्म रहित स्त्री-पुरुषों का साथ दूर से ही छोड़ देना चाहिये।

परवशता से कोई कुसंगी आ जाय तो उससे बात करना छोड़ कर मौन होकर रहना। अपने कर्मोदय के आधीन देश–काल के योग्य जो स्थान प्राप्त हुआ हो उसी में रहकर शयन, आसन, अशन करना। **जिनशास्त्रों की परमशरण ग्रहण करना, जिनसिद्धान्तों का उपदेश धर्मात्माओं से सुनना।** त्याग, संयम, शुभध्यान, भावनाओं को विस्मरण नहीं करना; क्योंकि धर्मात्मा–साधर्मी भी अपने तथा दूसरों के धर्म की पुष्टता चाहते हैं; धर्म की प्रभावना चाहते हुए धर्मोपदेशादि रूप वैयावृत्य में आलसी नहीं होना; त्याग, व्रत, संयम, शुभध्यान, शुभभावना में ही **आराधक साधर्मी को लीन करना चाहिये।**

यदि कोई आराधक ज्ञान सहित होकर भी कर्म के तीव्र उदय से तीव्र रोग, क्षुधा, तृषादि परीषह सहन करने में असमर्थ होकर व्रतों की प्रतिज्ञा तोड़ने लगे, अयोग्य वचन भी कहने लगे, रुदनादि रूप विलापरूप आर्त परिणाम हो जायें तो **साधर्मी बुद्धिमान पुरुष उसका तिरस्कार नहीं करे, कटुवचन नहीं कहे, कठोर वचन नहीं कहे; क्योंकि वह वेदना से तो दुःखी है ही, बाद में तिरस्कार के व अवज्ञा के वचन सुनकर मानसिक दुःख पाकर दुर्ध्यान करके धर्म से विचलित हो जाये, विपरीत आचरण करने लगे, आत्मघात कर ले। इसलिये आराधक का तिरस्कार करना योग्य नहीं है।**

उपदेशदाता को बहुत धीरता धारण करके आराधक को स्नेह भरे वचन कहना, मीठे वचन कहना, जो हृदय में प्रवेश कर जायें, जिन्हें सुनते ही समस्त दुःख भूल जाये। करुणारस से भरे उपकारबुद्धि से भरे वचन कहना चाहिये।[१]"

इसप्रकार मार्गदर्शन देने के उपरान्त वे पंडित सदासुखदासजी सल्लेखना धारण करने वाले को संबोधित करते हैं; उसका महत्त्वपूर्ण अंश इसप्रकार है –

---

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पृष्ठ–४५० से ४५२

"**हे धर्म के इच्छुक!** अब सावधान हो जाओ। पूर्व कर्म के उदय से रोग, वेदना, महाव्याधि उत्पन्न हुई है, परीषहों का कष्ट पैदा हुआ है, शरीर निर्बल हो गया है, आयु पूर्ण होने का अवसर आया है। अतः अब दीन नहीं होओ, कायरता छोड़कर शूरपना ग्रहण करो। कायर व दीन होने पर भी असाताकर्म का उदय नहीं छोड़ेगा। दुःख को हरण करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

असाता को दूर करके साताकर्म देने में कोई इन्द्र, धरणेन्द्र, जिनेन्द्र समर्थ नहीं है। कायरता दोनों लोकों को नष्ट करनेवाली है, धर्म से पराङ्मुखता करानेवाली है। अतः धैर्य धारण करके क्लेशरहित होकर भोगोगे तो पूर्वकर्म की निर्जरा होगी तथा नवीन कर्म के बंध का अभाव हो जायेगा। **तुम जिनधर्म के धारक धर्मात्मा कहलाते हो, सभी लोग तुम्हें ज्ञानवान समझते हैं।** धर्म के धारकों में विख्यात हो, व्रती हो, व्रत-संयम की यथाशक्ति प्रतिज्ञा ग्रहण की है, यदि तुम अब त्याग-संयम में शिथिलता दिखलाओगे तो तुम्हारा यश तथा परलोक तो बिगड़ेगा ही; किन्तु अन्य धर्मात्माओं की व धर्म की भी बहुत निन्दा होगी, अनेक भोले जीव धर्म के मार्ग में शिथिल हो जायेंगे।[१]

क्रम से देह को इस तरह कृश करो, जिससे वात-पित्त-कफ का विकार मंद होता जाय, परिणामों की विशुद्धता बढ़ती जाय। इसप्रकार आहार के त्याग का क्रम पहले कहा ही है। बाद में अन्त समय में जितनी शक्ति हो उसके अनुसार जल का भी त्याग करना।

अंतिम समय में जब तक शक्ति रहे तब तक पंच नमस्कार मंत्र तथा बारह भावनाओं का स्मरण करना। जब शक्ति घटने लग जाये तो अरहन्त नाम का ही, सिद्ध नाम मात्र का ही ध्यान करना।

जब शक्ति नहीं रहे तब धर्मात्मा, वात्सल्य अंग के धारक, स्थितिकरण कराने में होशियार ऐसे साधर्मी निरन्तर चार आराधना व

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पृष्ठ-४५२

पंच नमस्कार का मधुर स्वरों से बड़ी धीरता से श्रवण करावें, जैसे आराधक के निर्बल शरीर में व मस्तक में वचनों से खेद या दुःख उत्पन्न न हो तथा सुनने में चित्त लग जाय उसप्रकार श्रवण करावें।

बहुत आदमी मिलकर कोलाहल नहीं करें, एक-एक साधर्मी अनुक्रम से धर्म श्रवण व जिनेन्द्र नाम स्मरण करावे।

आराधक के निकट बहुत जनों का व सांसारिक ममत्व-मोह की कथा-वार्ता करनेवालों का आगमन रोक देवे। पंच नमस्कार या चार शरण इत्यादि वीतराग कथा सिवाय नजदीक में अन्य कोई चर्चा नहीं करे। दो चार धर्म के धारक सिवाय अन्य का समागम नहीं रहे।[१]"

उक्त कथन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि जबतक सल्लेखनाधारी अध्ययन, चिन्तन, मनन, पाठ आदि करने में स्वयं समर्थ है, सक्रिय है; तबतक कोई अन्य कुछ भी सुनाकर उसे डिस्टर्ब न करे; जब वह कमजोरी के कारण यह सब स्वयं करने में समर्थ न रहे; तब अन्य साधर्मी, जो विद्वान हों, समझदार हों, और स्थितिकरण करने में समर्थ हों; वे उसे कुछ सुनायें, कहें, समझायें; पर एकदम शान्तभाव से।

साधक के पास कोलाहल, रोना-धोना, लौकिक वार्ता बिल्कुल नहीं होना चाहिये।

भावुक लोग उनके पास न रहें, बाल-बच्चे भी दूर ही रहें। संबंधियों को भी अधिक काल तक निकट न रहने दें।

सल्लेखना की तैयारी और कुछ नहीं; मात्र स्वयं को देहपरिवर्तन के लिए तैयार करना है; वर्तमान के सभी संयोगों के वियोग को खुशी-खुशी स्वीकार करने को तैयार होना है।

जो कुछ सुनिश्चित है, जिस समय जो होना है, वह तो होगा ही; उसे रोकना संभव नहीं है और न उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन भी

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पृष्ठ-४६५

संभव है और जो कुछ होना है, वह सहज हो ही रहा है। हमें उसमें भी कुछ नहीं करना है। हमें तो सिर्फ सहज रहना हैं, किसी प्रकार की टेंसन (तनाव) नहीं रखना है।

सहज परिवर्तन रूप वस्तुस्वरूप को सहजरूप से स्वीकारना है, सहज ज्ञाता-दृष्टाभाव बनाये रखना है।

देह परिवर्तन, जिसे हम मरण कहते हैं; उसमें कोई दुःख नहीं है। **मृत्यु के समय किसी किसी को जो पीड़ा होती देखी जाती है, वह तो किसी बीमारी का परिणाम है।**

यदि कोई बीमारी नहीं हो तो सहज जंभाई लेते प्राण निकल सकते हैं, छींक आने के काल में देहपरिवर्तन हो सकता है।

जो दुःख की चर्चा होती है, वह तो उपसर्ग की है, दुर्भिक्ष की है, बीमारी की है, बुढ़ापे की है; वह मरण की नहीं।

वह तो आपको भोगनी ही होगी; आप सल्लेखना न लें, तब भी भोगनी होगी, उससे सल्लेखना का कोई संबंध नहीं।

पीड़ा के डर से मरण से घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। मरण की बात न भी हो तो भी तो हम बीमारी का तो उचित उपचार (इलाज) करते ही हैं। सल्लेखना में भी प्रतिकार शब्द से उपचार करने की आज्ञा दी ही गई है।

हमें उक्त दुःखों से घबड़ा कर मरना नहीं है, मरण को स्वीकार करना नहीं है। बस बात मात्र इतनी ही है कि यदि मरण हो ही रहा है तो समताभावपूर्वक ज्ञाता-दृष्टा भाव बनाये रखना है। हमें तो सब स्वीकार है - मर रहे हों तो मरना, जी रहे हों तो जीना, हमें किसी भी स्थिति का प्रतिरोध नहीं करना है और न किसी भी स्थिति की मांग करना है।

जब तक जीवन है, तबतक जीने के लिये तो यथायोग्य भोजनादि करना है; पर मरने के लिये कुछ नहीं करना है। मरने के लिये आहार

छोड़ना नहीं है। सहज ही छूट जावे तो उसे सहज ज्ञाता-दृष्टा भाव से देखते-जानते रहना है।

केवली भगवान के ज्ञान में जो जिस समय होना झलका है, वह हमें बिना नाक-भौं सिकोड़े स्वीकार करना है। यदि हम यह कर सकें तो समझो हमारी सल्लेखना सफल हो गई; क्योंकि वस्तुस्थिति भी यही है और सुख-शांति भी इसी में है।

कुछ विचारकों ने इसे महोत्सव कहा है, मृत्यु महोत्सव कहा है; पर इस महोत्सव में कोलाहल नहीं है, भीड़-भाड़ नहीं है। नाच-गाना नहीं है, झाँझ-मजीरा नहीं है, आमोद-प्रमोद नहीं है, खानापीना नहीं है, खाना-खिलाना भी नहीं है। किसी भी प्रकार का हलकापन नहीं है।

कषायों का उद्वेग नहीं है, रोना-धोना भी नहीं है। शोक मनाने की बात भी नहीं है। एकदम शान्त-प्रशान्त वातावरण है, वैराग्य भाव है, गंभीरता है, साम्यभाव है।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि आप यह सब क्यों बता रहे हैं। इस बात को तो सभी लोग जानते हैं कि **यह एक गंभीर प्रसंग है, इसमें उछलकूद की आवश्यकता नहीं है।**

बात तो आप ठीक ही कहते हैं; परन्तु कुछ लोग महोत्सव का अर्थ ही विशेषप्रकार की धूमधाम समझते हैं और इस प्रसंग को भी वही रूप देना चाहते हैं। उन्हें तो कुछ भी हो, नाचना-गाना है, जुलूस निकालना है।

दीपावली पर भगवान का वियोग हुआ था, सभी जानते हैं; पर जिनको खुशियाँ मनानी हैं, पटाके छोड़ना है, लड्डू खाने हैं; वे तो खुशियाँ मनायेंगे ही, पटाके छोड़ेंगे ही, लड्डू खायेंगे ही। कौन समझाये उन्हें?

समाधिमरण और सल्लेखना एकदम व्यक्तिगत चीज है। इसे सामाजिक रूप देना, प्रभावना के नाम पर इसका प्रदर्शन करना, प्रचार-प्रसार करना उचित नहीं है।

पत्रकारों को बुलाना, रोजाना स्वास्थ्य बुलेटिन निकालना, साधक को जांच यंत्रों में लपेट देना, इन्टरव्यू लेना – ये सबकुछ ठीक नहीं है; अतिशीघ्र इस भव को छोड़ देने की तैयारी करने वालों को इन सबसे क्या प्रयोजन है?

आप कह सकते हैं कि ऐसा करने से धर्म की प्रभावना होती है।

प्रभावना तो नहीं होती, बल्कि ऐसा वातावरण बनता है कि लोग कहने लगते हैं कि **यह तो आत्महत्या है। सरकार भी दबाव बनाने लगती है। यदि कोर्ट ने कुछ कह दिया तो अपने को धर्म संकट खड़ा हो जाता है।**

हमारा जीवन हमारा जीवन है। इसमें किसी का हस्तक्षेप नहीं है, नहीं होना चाहिये। यदि हम शान्ति से चुपचाप कुछ करें तो हमें कोई कुछ नहीं कहता। पर जब हम अपनी किसी क्रिया को, कार्य को; भुनाने की कोशिस करते हैं; तब हजारों झँझटें खड़ी हो जाती हैं।

सल्लेखनापूर्वक मरण चुनना हमारा मूलभूत अधिकार है।

आप कह सकते हैं कि जीना आपका जन्मसिद्ध अधिकार है, मरना नहीं।

सल्लेखना में हम मरण के लिये प्रयास नहीं करते; अपितु अंतिम साँस तक जीने का ही प्रयास करते हैं; किन्तु जब मरण अनिवार्य हो जाता है, तब क्या हम शान्ति से मर नहीं सकते? शान्ति से जीना और शान्ति से मरना हमारा दायित्व है; जिसे हम समताभावपूर्वक निभाते हैं।

इस बात को हम अनेक बार स्पष्ट कर आये हैं कि जब मृत्यु एकदम अनिवार्य हो जावे, बचने का कोई उपाय शेष न रहे, तभी सल्लेखना ग्रहण करें।

यद्यपि यह सत्य है कि हमारी अंतरंग क्रियाओं से किसी को कुछ भी लेना–देना नहीं है; तथापि यह भी सत्य ही है कि हमारे आडम्बर किसी को स्वीकार नहीं होते। अतः आडम्बरों से बचना हमारा परम कर्त्तव्य है।

सम्पूर्ण समाज से हमारा विनम्र निवेदन है कि प्रभावना के नाम पर ऐसी परिस्थितियाँ पैदा न करें; जिससे किसी को हमारे धर्म में हस्तक्षेप करने का मौका मिले।

जिन्होंने इसे महोत्सव कहा है; उन्होंने भी महान मुनिराजों पर आये संकटों की, उपसर्गों की चर्चा करके संकटग्रस्त संल्लेखनाधारियों को ढाँढ़स बंधाया है। अतः वहाँ उत्सव जैसी कोई बात नहीं है।

हमने सल्लेखना को कुछ इस रूप में प्रस्तुत कर दिया है कि सल्लेखना एक ऐसी क्रिया है कि जिसमें बहुत कष्ट होता है, बहुत पीड़ा होती है; पर ऐसी बात बिल्कुल नहीं है। **'तो तेरे जिय कौन कष्ट है, मृत्यु महोत्सव भारी'** इस पंक्ति ने जलती आग में घी डालने का काम किया है। एक भयानक चित्र प्रस्तुत हो गया है।

समाज ने उक्त छन्दों के आधार पर चित्र बनवाकर मन्दिरों में प्रमुख स्थानों पर लगवा दिये। गीत–संगीत वाले भी कहाँ पीछे रहने वाले थे। उन्होंने इन गीतों को संगीत के साथ प्रस्तुत कर समा बाँध दिया। सब एक दिशा में ही बह गये, किसी ने भी यह प्रश्न नहीं उठाया। जो भी हो, पर अब तो इस ओर ध्यान देना ही चाहिये।

उस गीत में जिन मुनिराजों की चर्चा है, वे बस लगभग उतने ही हैं; उनसे **करोड़ों गुने मुनिराज ऐसे हैं, जिन्हें कोई कष्ट नहीं होता; क्योंकि सभी मुनिराज अत्यन्त पवित्र हृदय वाले महापुण्यशाली होते हैं, एकाध को कोई एकाध पाप का उदय आ जाता है। सल्लेखना लेनेवाले गृहस्थों की भी यही स्थिति है। किसी को कोई कष्ट नहीं होता।**

आखिर, उन्हें कष्ट हो भी क्यों? क्योंकि सभी महान धर्मात्मा और पुण्यशाली होते हैं।

पण्डित सदासुखदासजी के उद्धरण में जिन कष्टों की चर्चा की है; वे सभी को होंगे ही – ऐसा नहीं है। कभी कदाचित् किसी को हो जावें तो क्या करें – तदर्थ मार्गदर्शन दिया है।

यदि हम सावधान रहें और वात-पित्त-कफ को कुपित न होने दें तो किसी भी प्रकार का कोई कष्ट नहीं होगा। शुद्ध सात्विक वृत्ति वाले मेरे पिताजी को मृत्यु के समय कोई कष्ट नहीं हुआ। सहज ही उनकी खुराक कम होती गई। अनाज पचना बन्द हो गया; पीड़ा का, भयंकर पीड़ा का कोई अहसास नहीं हुआ, वे बराबर तत्त्व चिन्तन के प्रति सजग रहे।

हमने सभी प्रकार की जाँचें करवाई, पर उन्हें कोई बीमारी थी ही नहीं। बस वे क्रमशः कृष होते गये, ठोस आहार छूटता गया, पेय पदार्थ लेते रहे। क्रमशः पेय पदार्थ भी सहज छूटते गये, मात्र पानी रहा और अन्त समय में वह भी छूट गया। व अन्त समय तक सजग रहे, तत्त्वचर्चा करते रहे, वेदना के कोई चिह्न नहीं थे। पाँच मिनट पहले ही कुछ बेहोशी सी आई और सहज प्राण निकल गये।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि ऐसा है तो इन उपसर्गधारी मुनिराजों की चर्चा क्यों की है; उन पुण्यवालों की चर्चा क्यों नहीं की?

लेखक के दिमाग में यह आया कि कष्ट के प्रसंगों में यह पंक्तियाँ धैर्य बंधायेगी, परन्तु उन्होंने यह नहीं सोचा कि इनसे एक भय का वातावरण भी निर्मित हो सकता है।

सत्यवादी हरिश्चन्द्र नाटक देखकर भीड़ बाहर आ रही थी। एक पत्रकार ने एक पगड़ीधारी सेठजी से पूँछा –

"कैसा लगा नाटक? आपने क्या सीखा इससे?"

सेठजी ने अत्यन्त उपेक्षा भाव से कहा –

"सत्य बोलवा में कांई माल (लाभ) नथी। यदि महाराजा हरिश्चन्द्र जैसा सब कुछ गंवाकर दर-दर की ठोकर खाना हो तो सत्य बोलना।"

जब भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने यह नाटक लिखा होगा; तब उन्होंने सोचा भी न होगा कि कोई इस नाटक से ऐसी शिक्षा भी ले सकता है।

इसीप्रकार जब उक्त कवि ने यह छन्द लिखे होंगे, तब उन्होंने सोचा भी न होगा कि इससे ऐसा भी हो सकता है कि लोग सल्लेखना ग्रहण करने से डरने लगेंगे, कतराने लगेंगे।

सल्लेखना के समय न भय का वातावरण होना चाहिये, न आतंक का; न हंसी–खुशी का, न रंज का; एकदम शान्त वातावरण होना चाहिये।

'एकदम शान्त वातावरण क्या होता है' – हम तो यह भी नहीं जानते।

रोने–धोने के वातावरण को तो शान्त कहते ही नहीं; हंसी–खुशी के वातावरण को भी शान्त वातावरण नहीं कहते। जिसमें न रोना–धोना हो और न हंसी–खुशी; क्योंकि ये दोनों कषायरूप हैं, शान्तिरूप नहीं, समताभावरूप नहीं। एकदम समता हो, शान्ति हो। ऐसा वातावरण चाहिये।

अरे, भाई! जिनका अनादि–अनन्त आत्मा में अपनापन है; उनके लिये इन बाह्य क्षणिक संयोगों का वियोग क्या महत्व रखता है। अतः संयोगों के वियोग रूप मरण उन पर क्या प्रभाव डाल सकता है।

सम्यग्दृष्टी सल्लेखनाधारियों को भी यदि संयोगों में चारित्रमोहजन्य थोड़ा बहुत आकर्षण हो तो भी वे इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि **यदि ये संयोग जायेंगे तो अगले भव में इनसे कई गुने अच्छे संयोग उन्हें सहज ही प्राप्त होंगे; पर बात तो यह है कि ज्ञानियों को संयोगों में रस ही नहीं है।**

एक भाई ने मुझसे पूछा –

"क्या हो रहा है?"

मैंने कहा – "सल्लेखना की तैयारी।"

एकदम घबड़ाते हुये वे बोले –

"क्या कहा, सल्लेखना की तैयारी। क्यों क्या हो गया?"

मैंने कहा – "कुछ नहीं।"

वे बोले – "कुछ नहीं तो सल्लेखना की तैयारी क्यों?"

मैं सल्लेखना पर एक पुस्तक लिख रहा हूँ; अतः उसमें व्यस्त हूँ। मुझसे प्रायः लोग लेखन के बारे में ही पूँछते हैं; अतः मैंने यही समझा कि यह भी लेखन के बारे में ही पूँछ रहे हैं; पर वे कुछ और ही समझ गये।

वे कहने लगे – "मैं तो डर गया था कि ऐसा क्या हो गया कि आप सल्लेखना की तैयारी करने लगे ?"

क्या सल्लेखना की तैयारी के लिये कुछ होना जरूरी है? क्या स्वस्थ रहते हुये सल्लेखना की तैयारी नहीं की जा सकती?

अरे, भाई! सल्लेखना की तैयारी तो स्वस्थ अवस्था में ही होती है। मरण सम्मुख होने पर तो सल्लेखना ली जाती है। मरणसम्मुख होने पर तैयारी को समय ही कहाँ मिलता है?

हमें अपना जीवन समाधिमय बनाना है। ज्ञानियों का जीवन समाधिमय ही होता है, समाधिमय ही होना चाहिये।

जब जीवन समतामय होगा, समाधिमय होगा तो मरण भी सहज समाधिमय होगा।

मनुष्य मरते हैं और आत्मा अमर हैं। अब हमें यह निर्णय करना है कि हम मनुष्य हैं या आत्मा? हमारा अपनापन मरणशील मनुष्य पर्याय में है या अमर आत्मा में?

यह मनुष्य पर्याय तो कुछ दिनों की है। दो दिन आगे या दो दिन पीछे, आखिर तो इस मनुष्य पर्याय का अन्त होना ही है।

एक तो यह आत्मा अनादि से है और अनन्त काल तक रहेगा। अतः इसका अन्त कभी नहीं होता। सदा साथ रहनेवाला यह अनादि-अनन्त आत्मा मैं स्वयं हूँ।

यदि किसी अपेक्षा असमान जातीय मनुष्य पर्याय को भी अपना कहें तो इसमें अनन्त पुद्गल परमाणु अजीव द्रव्य हैं और एक आत्मा जीव द्रव्य है। तात्पर्य यह है कि अनन्त द्रव्यों की पिण्ड रूप असमान जातीय मनुष्य पर्याय में मेरा (आत्मा का) हिस्सा अनन्तवाँ भाग ही है।

इस असमानजातीयमनुष्यपर्याय में से अनन्त परमाणुओं का बिखर जाना और आत्मा का पृथक् हो जाना ही मरण है।

मरण में बिखरे तो वे पौद्गलिक परमाणुओं के शरीररूप स्कन्ध ही है। मैं तो अभी भी वैसा ही हूँ, जैसा पहले था। मेरा क्या होना था?

समाधिमरण की असली तैयारी तो उस भगवान आत्मा की अमरता का चिन्तन-मनन है; जो मैं स्वयं हूँ। आत्मा के असंख्य प्रदेश और अनन्त गुण तो कभी बिखरते ही नहीं। रही पर्याय के बदलने की बात। सो पर्याय का तो स्वभाव ही बदलना है। यदि वह बदले नहीं तो पर्याय ही नहीं हो सकती; क्योंकि बदलना ही उसका जीवन है।

बहते जल का नाम ही नदी है। यदि जल का बहना बन्द हो जाय तो फिर वह नदी नहीं रहेगी; और चाहे जो कुछ हो, पर नदी नहीं रह सकती। सागर हो, तालाब हो, झील हो, कुआँ-बावड़ी हो; कुछ भी हो, पर नदी नहीं।

इसीप्रकार यदि बदले नहीं तो वह पर्याय नहीं हो सकती। और चाहे जो कुछ भी हो, पर पर्याय नहीं हो सकती; क्योंकि पलटने का नाम ही पर्याय है, परिवर्तनशील होना पर्याय का धर्म है; अतः पर्याय में तो परिवर्तन होगा ही। यह मनुष्यपर्याय भी पर्याय है; अतः यह तो पलटेगी ही। इसको पलटने से रोकना संभव नहीं है।

यदि दुखरूप पर्याय पलटेगी नहीं तो सुखरूप पर्याय कैसे आयेगी? यदि मोक्षपर्याय को आना है तो संसार पर्याय तो पलटना ही होगा, जाना ही होगा, नष्ट होना ही होगा।

मृत्यु भी पर्याय का पलटना ही है। इस पलटन को सहज भाव से स्वीकार करना ही सल्लेखना है, समाधिमरण है, संथारा है; जो जीवन के अन्त समय में अनिवार्य है, अति आवश्यक है।

●

एक साक्षात्कार : डॉ. भारिल्ल से

– अखिल बंसल

(जैन समाज के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् अ.भा.दि. जैन विद्वत्परिषद् के राष्ट्रीय अध्यक्ष डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल से समाधि और सल्लेखना जैसी आज की ज्वलन्त समस्या पर प्रखर पत्रकार – अ.भा. जैन पत्र सम्पादक संघ के कार्याध्यक्ष एवं समन्वयवाणी के सम्पादक अखिल बंसल का दिनांक 12 अगस्त 15 को लिया गया विशेष साक्षात्कार।)

अखिल बंसल – यह जानकर बहुत प्रसन्नता हुई कि आपने सल्लेखना (समाधिमरण) पर एक किताब लिखी है; जो शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रही है, अभी प्रेस में है।

उक्त संदर्भ में मेरा **एक प्रश्न है** कि एक मुनिराज को कोई बीमारी नहीं है। सभी कुछ ठीक-ठाक है; परन्तु उनके पैर में गंभीर चोट लग जाने से वे खड़े नहीं हो सकते, दूसरों के सहयोग से भी खड़े नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में क्या उन्हें सल्लेखना ले लेना चाहिये या और भी कोई रास्ता है? कृपया मार्गदर्शन करें।

डॉ. भारिल्ल – मैं साधारण गृहस्थ हूँ, श्रावक हूँ; मुनिराजों का मार्गदर्शन करना मेरा काम नहीं है। उन्हें अपने दीक्षागुरु के सामने अपनी समस्या रखनी चाहिये।

अखिल बंसल – अब तो उनके पास एक ही रास्ता बचा है कि वे अन्न जल-त्याग कर सल्लेखना धारण कर लें; क्योंकि मुनिराज खड़े-खड़े आहार लेते हैं; जो उनके लिये अब संभव नहीं है।

डॉ. भारिल्ल – आहार जल त्याग कर मृत्यु का वरण कर लेने पर जहाँ भी जावेंगे; वह दशा निश्चित रूप से असंयम रूप होगी; क्योंकि जन्म के समय किसी भी गति में किसी को संयम नहीं होता।

अखिल बंसल – क्या असंयम से बचने के लिये उनके पास कोई अन्य रास्ता नहीं?

डॉ. भारिल्ल – जब खड़े होकर आहार नहीं ले सकते तो अब अपरिमित काल तक महाव्रत रूप सकल संयम को तो बचाया नहीं जा सकता; पर अणुव्रत के रूप में देशसंयम को तो बचाया ही जा सकता है। सातवीं प्रतिमा धारण कर लें तो देश संयम बच जायेगा।

पहले भी गुरुओं ने अपने योग्य शिष्यों को अपने अमूल्य नरभव को बचाने की सलाह और आदेश दिये ही हैं। आचार्य समन्तभद्र इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। चर्चित मुनिराज को भी अपने गुरु से ही आज्ञा लेना चाहिये, मार्गदर्शन लेना चाहिये।

आज भी अनेक लोग अपने गुरु की अनुमतिपूर्वक गृहस्थ के रूप में आपरेशन आदि इलाज कराते हैं और बाद में पुनः दीक्षा ले लेते हैं।

अखिल बंसल – आप भी विद्वान हैं और आपने सल्लेखना के बारे में अध्ययन भी खूब किया है। पुस्तक भी लिखी है। अतः आपको बात टालना नहीं चाहिये।

डॉ. भारिल्ल – टाला कहाँ है? जहाँ तक मेरी समझ है। मैंने उत्तर दे ही दिया है। मैंने तो ग्रहस्थों की सल्लेखना के बारे में अध्ययन किया है। वस्तुतः बात यह है कि अब हमारा भी समय आ गया है। अतः हमने तो स्वयं के कल्याण के लिये सल्लेखना के संबंध में गहरा अध्ययन किया है। लिखने से वस्तु व्यवस्थित हो जाती है। इसलिये उक्त अध्ययन-चिंतन को व्यवस्थित रूप प्रदान कर दिया है।

अखिल बंसल – आपके इस अध्ययन का लाभ भी तो सभी को मिलना चाहिये।

डॉ. भारिल्ल – मेरी भी यही भावना है।

अखिल बंसल – लोग तो सल्लेखना के समय श्रावकों को मुनि बना देते हैं और आप मुनिराज को श्रावक बनने की सलाह दे रहे हैं।

डॉ. भारिल्ल – मैंने तो आज तक किसी मुनिराज से श्रावक बनने का अनुरोध नहीं किया। मरणासन्न नहीं होने पर भी, संयम की रक्षा के नाम पर, आहारादि का त्याग कर मरण का वरण करने का निषेध जिनवाणी में स्थान-स्थान पर किया गया है; क्योंकि मरने पर तो संयम का नाश अनिवार्य ही है; क्योंकि जन्मते समय तो संयम कहीं भी नहीं होता।

यदि योग्य हों, पात्र हों, स्वस्थ हों, कोई दिक्कत न हो तो श्रावकों को मुनिराज बनने-बनाने में कोई दोष नहीं है। परन्तु अत्यन्त शिथिल अवस्था में, मुनिधर्म का स्वरूप न समझने वालों के अर्द्ध बेहोशी की हालत में कपड़े खोल देने से तो कोई मुनि नहीं बन जाता।

मुनिधर्म कितना महान है –अभी आपको इसकी कल्पना नहीं है। अत्यन्त शिथिल अवस्था में साधु बनने की बात तो अपने गले नहीं उतरती।

अखिल बंसल – अभी-अभी हाईकोर्ट का फैसला आया है कि सल्लेखना आत्महत्या जैसा ही है। अतः सल्लेखना लेने वाले और उन्हें प्रेरणा देने वालों पर कानूनी कार्यवाही की जाय।

उक्त आदेश से सम्पूर्ण समाज क्षुब्ध है, उसके विरुद्ध आन्दोलन कर रहा है। उस संबंध में आपका क्या कहना है?

डॉ. भारिल्ल – उक्त आदेश जैनधर्म पर कुठाराघात है। उसका प्रतिकार तो किया ही जाना चाहिये। उस आदेश को निरस्त कराने के लिये जो भी अहिंसक उपाय करना पड़े, हमें करना ही चाहिये।

उक्त सन्दर्भ में समाज जो कुछ कर रहा है, उसमें हमारी पूरी अनुमोदना है और हम मन-वचन-काय से पूरी तरह सबके साथ हैं।

उक्त आदेश को तो निरस्त कर ही लिया जायेगा। पर हमें इस बात पर गंभीरता से विचार करना चाहिये कि इसप्रकार के प्रसंग बनने का मूल कारण क्या है?

अखिल बंसल – इस संबंध में आप क्या सोचते हैं?

डॉ. भारिल्ल – मेरी समझ में इसका एकमात्र कारण वे बड़े-बड़े उत्सव हैं, जो हम प्रभावना के नाम पर करते हैं। बढ़ा-चढ़ाकर प्रचार करते हैं, अखबारों में देते हैं। ऐसा लिखते हैं कि उन्होंने खाना बन्द कर दिया है, अकेला पानी ले रहे हैं। अब वह भी बन्द कर दिया गया है।

इन सब बातों से ऐसा लगता है कि स्वस्थ व्यक्ति का भोजन-पानी बन्द कर दिया है।

सल्लेखना एक व्यक्तिगत क्रिया है। उसका अनुष्ठान गुरु के सान्निध्य में होता है। उसके प्रचार-प्रसार की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है। सल्लेखना एक सहज प्रक्रिया है। उसमें इतना आडम्बर करने की आवश्यकता नहीं है।

अखिल बंसल – आवश्यकता क्यों नहीं है? यह तो एक महोत्सव है, मृत्यु महोत्सव है।

डॉ. भारिल्ल – महोत्सव तो है, पर उसमें आडम्बर नहीं है, रोना-गाना नहीं है।

इस सन्दर्भ में तो मैंने अपनी पुस्तक में लिखा है –

"कुछ विचारकों ने इसे महोत्सव कहा है, मृत्यु महोत्सव कहा है; पर इस महोत्सव में कोलाहल नहीं है, भीड़-भाड़ नहीं है। नाच-गाना नहीं है, झाँझ-मजीरा नहीं है, आमोद-प्रमोद नहीं है, खानापीना नहीं है, खाना-खिलाना भी नहीं है। किसी भी प्रकार का हलकापन नहीं है।

कषायों का उद्वेग नहीं है, रोना-धोना भी नहीं है। शोक मनाने की बात भी नहीं है। एकदम शान्त-प्रशान्त वातावरण है, वैराग्य भाव है, गंभीरता है, साम्यभाव है।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि आप यह सब क्यों बता रहे हैं? इस बात को तो सभी लोग जानते हैं कि **यह एक गंभीर प्रसंग है, इसमें उछलकूद की आवश्यकता नहीं है।**

बात तो आप ठीक ही कहते हैं; परन्तु कुछ लोग महोत्सव का

अर्थ ही विशेषप्रकार की धूमधाम समझते हैं और इस प्रसंग को भी वही रूप देना चाहते हैं। उन्हें तो कुछ भी हो, नाचना-गाना है, जुलूस निकालना है।

दीपावली पर भगवान का वियोग हुआ था, सभी जानते हैं; पर जिनको खुशियाँ मनानी हैं, पटाके छोड़ना है, लड्डू खाने हैं; वे तो खुशियाँ मनायेंगे ही, पटाके छोड़ेंगे ही, लड्डू खायेंगे ही। कौन समझाये उन्हें?

समाधिमरण और सल्लेखना एकदम व्यक्तिगत चीज है। इसे सामाजिक रूप देना, प्रभावना के नाम पर इसका प्रदर्शन करना, प्रचार-प्रसार करना उचित नहीं है।

पत्रकारों को बुलाना, रोजाना स्वास्थ्य बुलेटिन निकालना, साधक को जांच यंत्रों में लपेट देना, इन्टरव्यू लेना – ये सबकुछ ठीक नहीं है; अतिशीघ्र इस भव को छोड़ देने की तैयारी करने वालों को इन सबसे क्या प्रयोजन है?

आप कह सकते हैं कि ऐसा करने से धर्म की प्रभावना होती है।

प्रभावना तो नहीं होती, बल्कि ऐसा वातावरण बनता है कि लोग कहने लगते हैं कि **यह तो आत्महत्या है। सरकार भी दबाव बनाने लगती है। यदि कोर्ट ने कुछ कह दिया तो अपने को धर्म संकट खड़ा हो जाता है।**

हमारा जीवन हमारा जीवन है। इसमें किसी का हस्तक्षेप नहीं है, नहीं होना चाहिये। यदि हम शान्ति से चुपचाप कुछ करें तो हमें कोई कुछ नहीं कहता। पर जब हम अपनी किसी क्रिया को, कार्य को; भुनाने की कोशिश करते हैं; तब हजारों झँझटें खड़ी हो जाती हैं।

सल्लेखनापूर्वक मरण चुनना हमारा मूलभूत अधिकार है।

आप कह सकते हैं कि जीना आपका जन्मसिद्ध अधिकार है, मरना नहीं।

सल्लेखना में हम मरण के लिये प्रयास नहीं करते; अपितु अंतिम साँस तक जीने का ही प्रयास करते हैं; किन्तु जब मरण अनिवार्य हो जाता है, तब क्या हम शान्ति से मर नहीं सकते? **शान्ति से जीना और शान्ति से मरना हमारा दायित्व है; जिसे हम समताभावपूर्वक निभाते हैं।**

इस बात को हम अनेक बार स्पष्ट कर आये हैं कि जब मृत्यु एकदम अनिवार्य हो जावे, बचने का कोई उपाय शेष न रहे, तभी सल्लेखना ग्रहण करें।

यद्यपि यह सत्य है कि हमारी अंतरंग क्रियाओं से किसी को कुछ भी लेना-देना नहीं है; तथापि यह भी सत्य ही है कि हमारे आडम्बर किसी को स्वीकार नहीं होते। अतः आडम्बरों से बचना हमारा परम कर्त्तव्य है।

सम्पूर्ण समाज से हमारा विनम्र निवेदन है कि प्रभावना के नाम पर ऐसी परिस्थितियाँ पैदा न करें; जिससे किसी को हमारे धर्म में हस्तक्षेप करने का मौका मिले।

जिन्होंने इसे महोत्सव कहा है; उन्होंने भी महान मुनिराजों पर आये संकटों की, उपसर्गों की चर्चा करके संकटग्रस्त संल्लेखनाधारियों को ढाँढ़स बंधाया है। अतः वहाँ उत्सव जैसी कोई बात नहीं है।[१]"

अखिल बंसल – कोर्ट के इस फैसले से समाज जागृत हो गया है, सतर्क हो गया है; उसमें अभूतपूर्व एकता हो गई है। आज इस मामले में सभी दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी, तेरापंथी एक जाजम पर आ गये हैं, एक साथ खड़े हो गये हैं।

डॉ. भारिल्ल – अच्छी बात है। ऐसे समय पर एक नहीं होंगे तो कब होंगे? ●

---

१. आगम के आलोक में – समाधिमरण या सल्लेखना, पृष्ठ-३८

महावीर वन्दना

जो मोह माया मान मत्सर, मदन मर्दन वीर हैं।
जो विपुल विघ्नों बीच में भी, ध्यान धारण धीर हैं।।
जो तरण-तारण, भव-निवारण, भव जलधि के तीर हैं।
वे वंदनीय जिनेश, तीर्थंकर स्वयं महावीर हैं।।

जो राग-द्वेष विकार वर्जित, लीन आतम ध्यानमें।
जिनके विराट् विशाल निर्मल, अचल केवलज्ञान में।।
युगपद् विशद सकलार्थ झलकें, ध्वनित हो व्याख्यान में।
वे वर्द्धमान महान जिन, विचरें हमारे ध्यान में।।

जिनका परम पावन चरित, जलनिधि समान अपार है।
जिनके गुणों के कथन में, गणधर न पावें पार है।।
बस वीतराग-विज्ञान ही, जिनके कथन का सार है।
उन सर्वदर्शी सन्मती को, वंदना शत बार है।।

जिनके विमल उपदेश में सबके उदय की बात है।
समभाव समताभाव जिनका, जगत में विख्यात है।।
जिसने बताया जगत को, प्रत्येक कण स्वाधीन है।
कर्त्ता न धर्त्ता कोई है, अणु-अणु स्वयं में लीन है।।

आतम बने परमातमा, हो शान्ति सारे देश में।
है देशना सर्वोदयी, महावीर के सन्देश में।।

ह्न डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

डॉ. भारिल्ल पर प्रकाशित साहित्य

१. तत्त्ववेत्ता डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल (अभिनंदन ग्रंथ) १५०.००

२. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : व्यक्तित्व और कृतित्व
– डॉ. महावीरप्रसाद जैन ३०.००

३. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल और उनका कथा साहित्य
– अरुणकुमार जैन १२.००

४. डॉ. भारिल्ल के साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन
– अखिल जैन बंसल २५.००

५. गुरु की दृष्टि में शिष्य ५.००

६. मनीषियों की दृष्टि में : डॉ. भारिल्ल ५.००

७. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के साहित्य का समालोचनात्मक अनुशीलन
– डॉ. सीमा जैन २५.००

प्रकाशनाधीन

८. शिक्षाशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के शैक्षिक विचारों का समीक्षात्मक अध्ययन – नीतू चौधरी

९. डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व – शिखरचन्द जैन

१०. धर्म के दशलक्षण एक अनुशीलन – ममता गुप्ता

अ. भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् के राष्ट्रीय अध्यक्ष –
डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के आध्यात्मिक व्याख्यान

जिनवाणी चैनल
पर
अवश्य देखें

जिनवाणी
JINVANI
सुख. शान्ति. समृद्धि

प्रतिदिन प्रातः 7:00 से 7:30 बजे तक

यह चैनल केबल के अतिरिक्त एयरटेल, वीडियोकॉन टी.वी. पर भी उपलब्ध है।

डॉ. भारिल्ल के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. समयसार : ज्ञायकभावप्रबोधिनी टीका	५०.००
२-६. समयसार अनुशीलन भाग १ से ५	१२५.००
७. समयसार का सार	३०.००
८. गाथा समयसार	१०.००
९. प्रवचनसार : ज्ञानज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी टीका	५०.००
१०-१२. प्रवचनसार अनुशीलन भाग १ से ३	९५.००
१३. प्रवचनसार का सार	३०.००
१४. कुन्दकुन्द शतक अनुशीलन	२०.००
१५. नियमसार : आत्मप्रबोधिनी टीका	५०.००
१६-१७. नियमसार अनुशीलन भाग १ से ३	७०.००
१८. छहढाला का सार	१५.००
१९. मोक्षमार्गप्रकाशक का सार	३०.००
२०. ४७ शक्तियाँ और ४७ नय	८.००
२१. पंडित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व	२०.००
२२. परमभावप्रकाशक नयचक्र	४०.००
२३. चिन्तन की गहराइयाँ	३०.००
२४. तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	२०.००
२५. धर्म के दशलक्षण	२०.००
२६. क्रमबद्धपर्याय	२०.००
२७. तत्त्वार्थमणिप्रदीप (पूर्वार्द्ध)	२०.००
२८. तत्त्वार्थमणिप्रदीप (उत्तरार्द्ध)	१०.००
२९. तत्त्वार्थमणिप्रदीप (सम्पूर्ण)	३०.००
३०. बिखरे मोती	१६.००
३१. सत्य की खोज	२५.००
३२. अध्यात्म नवनीत	१५.००
३३. आप कुछ भी कहो	१५.००
३४. आत्मा ही है शरण	१५.००
३५. सुक्ति-सुधा	१८.००
३६. बारह भावना : एक अनुशीलन	१६.००
३७. दृष्टि का विषय	१०.००
३८. गागर में सागर	७.००
३९. पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव	१२.००
४०. णमोकार महामंत्र : एक अनुशीलन	११.००
४१. रक्षाबन्धन और दीपावली	५.००
४२. आचार्य कुंदकुंद और उनके पंचपरमागम	५.००
४३. युगपुरुष कानजीस्वामी	५.००
४४. वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	१५.००

४५. मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ : एक अनुशीलन	५.००
४६. रहस्य : रहस्यपूर्ण चिट्ठी का	१०.००
४७. निमित्तोपादान	६.००
४८. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	५.००
४९. मैं स्वयं भगवान हूँ	५.००
५०. ध्यान का स्वरूप	४.००
५१. रीति-नीति	४.००
५२. शाकाहार	३.००
५३. भगवान ऋषभदेव	४.००
५४. तीर्थंकर भगवान महावीर	३.००
५५. चैतन्य चमत्कार	४.००
५६. गोली का जवाब गाली से भी नहीं	२.००
५७. गोम्मटेश्वर बाहुबली	२.००
५८. वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	२.००
५९. अनेकान्त और स्याद्वाद	३.००
६०. शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर	६.००
६१. बिन्दु में सिन्धु	२.५०
६२. मैं कौन हूँ	१०.००
६३. पश्चात्ताप खण्डकाव्य	१०.००
६४. बारह भावना एवं जिनेन्द्र वंदना	२.००
६५. कुंदकुंदशतक पद्यानुवाद	२.५०
६६. शुद्धात्मशतक पद्यानुवाद	१.००
६७. समयसार पद्यानुवाद	३.००
६८. योगसार पद्यानुवाद	०.५०
६९. समयसार कलश पद्यानुवाद	३.००
७०. प्रवचनसार पद्यानुवाद	३.००
७१. द्रव्यसंग्रह पद्यानुवाद	१.००
७२. अष्टपाहुड़ पद्यानुवाद	३.००
७३. नियमसार पद्यानुवाद	२.५०
७४. नियमसार कलश पद्यानुवाद	५.००
७५. सिद्धभक्ति	१०.००
७६. अर्चना जेबी	१.५०
७७. कुंदकुंदशतक (अर्थ सहित)	५.००
७८. शुद्धात्मशतक (अर्थ सहित)	५.००
७९-८०. बालबोध पाठमाला भाग २ से ३	७.००
८१-८३. वीतराग विज्ञान पाठमाला १ से ३	१४.००
८४-८५. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ से २	११.००
८६. भगवान महावीर और उनकी जन्मभूमि	३.००
८७. समाधिमरण या सल्लेखना	५.००
८८. ये है मेरी नारियाँ	५.००

हमारे यहाँ प्राप्त अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचन
प्रवचनरत्नाकर भाग 1 से 11 तक/नयप्रज्ञापन
नियमसार प्रवचन भाग 1 से 3
दिव्यध्वनिसार प्रवचन/समाधितंत्र प्रवचन
मोक्षमार्ग प्रवचन भाग-1,2,3,4/ज्ञानगोष्ठी
श्रावकधर्मप्रकाश/भक्तामर प्रवचन/अध्यात्म संदेश
वी.वि. प्रवचन भाग 1 से 6 तक/कारणशुद्धपर्याय
पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल के प्रकाशन
जान रहा हूँ देख रहा हूँ/जम्बू से जम्बूस्वामी
जिनपूजन रहस्य/हरिवंशकथा/ऐसे क्या पाप किये
शलाका पुरुष पूर्वार्द्ध/उत्तरार्द्ध/ये तो सोचा ही नहीं
चलते-फिरते सिद्धों से गुरु/णमोकार महामंत्र
पर से कुछ भी सम्बन्ध नहीं/नींव का पत्थर
विदाई की बेला/जिन खोजा तिन पाईयां
सामान्य श्रावकाचार/षट्कारक अनुशीलन
सुखी जीवन/विचित्र महोत्सव/यदि चूक गये तो
संस्कार/इन भावों का फल क्या होगा
समाधि, साधना और सल्लेखना/अहिंसा के पथ पर
अन्य प्रकाशन
मोक्षशास्त्र/चौबीस तीर्थंकर महापुराण
रत्नकरण्डश्रावकाचार/अष्टपाहुड़/जैनतत्त्व परिचय
समयसार/प्रवचनसार/क्षत्रचूड़ामणि
सर्वार्थसिद्धि वचनिका/ज्ञानानन्द श्रावकाचार
समयसार नाटक/मोक्षमार्ग प्रकाशक
सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाग-2 (पूर्वार्द्ध+उत्तरार्द्ध) एवं भाग3
बृहद द्रव्यसंग्रह/बारसाणुवेक्खा/आत्मानुशासन
नियमसार/योगसार प्रवचन/समयसार कलश
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव/पंचास्तिकाय संग्रह
भावदीपिका/कार्तिकेयानुप्रेक्षा/मोक्षमार्ग की पूर्णता
योगसार प्राभृत/पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/रामकहानी
धवलासार/द्रव्य संग्रह/तत्त्वज्ञान तरंगणी
गुणस्थान विवेचन/जीव जागा कर्म भागा
निर्विकल्प आत्मानुभूति के पूर्व/करणानुयोग परिचय
आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार
कालजयी बनारसीदास/आध्यात्मिक भजन संग्रह
छहढाला (सचित्र)/ क्या मृत्यु अभिशाप है?
सत्तास्वरूप/आ. कुन्दकुन्ददेव
अन्तर्द्वन्द/ज्ञानधारा कर्मधारा/नक्शों में दसकरण
विचार के पत्र विकार के नाम
परीक्षामुख/मुक्ति का मार्ग/ अलिंगग्रहण प्रवचन
जिनधर्म प्रवेशिका/अपनत्व का विषय
वीर हिमाचलतैं निकसी/वस्तुस्वातंत्र्य
समयसार : मनीषियों की दृष्टि में/पदार्थ-विज्ञान
व्रती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ/सुख कहाँ है ?
सिद्धस्वभावी ध्रुव की ऊर्ध्वता/छहढाला त्रयी
शास्त्रों के अर्थ समझने की पद्धति
सुखी होने का उपाय भाग 1 से 8 तक
संस्कार का चमत्कार/तलाश सुख की
मुक्ति की युक्ति/सत्ता का सुख/प्रमाण ज्ञान
एक संभावना यह भी/जैनदर्शन सार
पूजन विधान साहित्य
बृहद जिनवाणी संग्रह/तीनलोकमंडल विधान
सिद्धचक्र विधान/इन्द्रध्वज विधान/जिनेन्द्र अर्चना
कल्पद्रुम विधान/रत्नत्रय विधान/भक्तामर विधान
नवलब्धि विधान/बीस तीर्थंकर विधान
पंचमेरु नंदीश्वर विधान/शान्ति विधान
चौबीस तीर्थंकर विधान/चौसठ ऋद्धि विधान
दशलक्षण विधान/पंचपरमेष्ठी विधान/भक्ति सरोवर
लघु शान्ति विधान/सम्मेदशिखर पूजन विधान
170 तीर्थंकर पूजन विधान
पंचकल्याणक महोत्सव पूजन
बाल साहित्य
जैन नर्सरी/जैन केजी भाग-1-2-3
चलो पाठशाला चलो सिनेमा भाग-1-2
जैन जीके भाग-1से 10 तक/शीलवान सुदर्शन
सीखें हम गाते गाते/आगम प्रवेश भाग-1 से 3
शब्दों की रेल/मुझमें भी एक दशानन रहता है
भगवान बाहुबली/भगवान मल्लिनाथ
भगवान शान्तिनाथ/भगवान नेमिनाथ
भगवान पार्श्वनाथ/आओ जानें जैनधर्म
जैनधर्म की कहानियाँ भाग 1 से 18 तक
उपसर्गजयी सुकमाल/शीलवान सुदर्शन

महत्त्वपूर्ण नोट्स

पाठकों के पत्र......

डॉ. हुकमचंदजी भारिल्ल द्वारा लिखित 'आगम के आलोक में – समाधिमरण या सल्लेखना' नामक कृति को पढकर शिवाड-सवाईमाधोपुर (राज.) से वयोवृद्ध पण्डित बसन्तकुमारजी जैन शास्त्री लिखते हैं –

"आदरणीय श्री विद्वत्रत्न डॉ. हुकमचंदजी भारिल्ल सा.

सादर जयजिनेन्द्र। शुद्धात्मसत्कार !

आपकी लिखी पुस्तक **'आगम के आलोक में – समाधिमरण या सल्लेखना'** मेरे हाथ में है। मैंने इसका आद्योपान्त अध्ययन किया है और पाया है कि आपने यह पुस्तक सटीक लिखी है। आगम के प्रमाण-आगमानुकूल है।

मैं समझ सकता हूँ कि सल्लेखना या समाधिमरण को आज हमारे विद्वानों और महामुनिराजों ने क्लिष्ट बना दिया है। सरल-सामान्य और अन्तसमय में भावनाओं को सहज बनाने की जगह आकुलित रूप दे दिया है।

मेरी आयु 84 वर्ष चल रही है और मैं आगमानुकूल श्रावकधर्म का पालन करता हुआ संयम साधना और सल्लेखना समाधि का अभ्यास कर रहा हूँ।

जब शरीर छोड़ना ही है तो शान्त सरल परिणामों से ही क्यों न छोड़ें। कब छोड़ना है, इसका तो भान नहीं; पर छोड़ना जरूर है।

मेरा अनुभव है कि 70 वर्ष की आयु के बाद अन्न नहीं लेना चाहिये। शरीर के परमाणुओं के अनुकूल फल, दूध व जल लेना चाहिये। अन्न 50-60 वर्ष की आयु तक ही शरीर का पोषक रहता है। पश्चात् तो बीमारी पैदा करता है।

वृद्धावस्था में अन्न का उपयोग न करने से शरीर हल्का रहता है और मन भी संतुलित रहता है, जिसे संयम कहा जाता है। इससे शरीर के साथ-साथ कषाय भी कृश हो जाती है।

मेरी 84 वर्ष की आयु में भी अन्न का त्याग रहते हुये भी शरीर में कोई बीमारी जैसे बी.पी., डायबिटीज या अन्य बीमारी नहीं है। कमर और घुटनों में दर्द भी नहीं। हाँ शरीर शिथिल जरूर है – सो इन पुद्गल परमाणुओं का अपना स्वभाव है।

मैं रोजाना आपको सुबह 7 बजे **जिनवाणी चैनल पर सुनता हूँ और बहुत अच्छा लगता है। आगम की वास्तविकता का बोध भी होता है।** आपको बहुत बहुत धन्यवाद।"

आपका ही अपना

दिनांक 3-11-2015

बसन्तकुमार जैन शास्त्री

50/358, प्रतापनगर, सेक्टर-5, सांगानेर, जयपुर

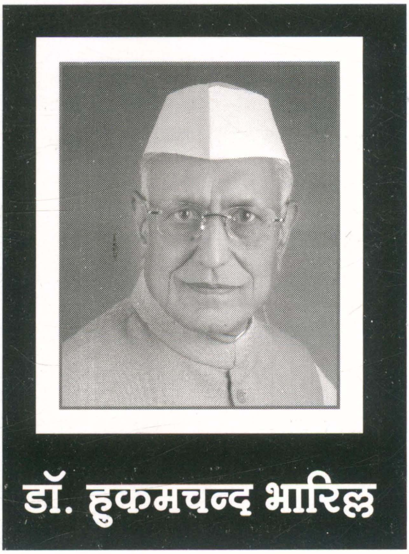

डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का नाम आज जैन समाज के उच्च कोटि के विद्वानों में अग्रणीय है। ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी वि. स. १९९२ तदनुसार शनिवार, दिनांक २५ मई, १९३५ को ललितपुर (उ.प्र.) जिले के बरौदास्वामी ग्राम के एक धार्मिक जैन परिवार में जन्मे डॉ. भारिल्ल शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न तथा एम. ए., पी-एच.डी. हैं। मंगलायतन विश्वविद्यालय द्वारा आपको डी-लिट् की मानद उपाधि प्रदान की गई है। समाज द्वारा समय-समय पर आपको विद्यावारिधि, महामहोपाध्याय, विद्यावाचस्पति, परमागमविशारद, तत्त्ववेत्ता, जैनरत्न, अध्यात्मशिरोमणि, वाणी-विभूषणआदि अनेक उपाधियों से विभूषित किया गया है।

सरल, सुबोध तर्कसंगत एवं आकर्षक शैली के प्रवचनकार डॉ. भारिल्ल आज सर्वाधिक लोकप्रिय आध्यात्मिक प्रवक्ता हैं। उन्हें सुनने देश-विदेश में हजारों श्रोता निरन्तर उत्सुक रहते हैं।

आध्यात्मिक जगत में ऐसा कोई घर न होगा, जहाँ प्रतिदिन आपके प्रवचनों के कैसिट न सुने जाते हों तथा आपका साहित्य उपलब्ध न हो। धर्म प्रचारार्थ आप ३३ बार विदेश यात्रायें भी कर चुके हैं।

जैन जगत में सर्वाधिक पढ़े जानेवाले डॉ. भारिल्ल ने अब तक छोटी-बड़ी ८८ पुस्तकें लिखी हैं और अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि अब तक आठ भाषाओं में प्रकाशित आपकी कृतियाँ ४५ लाख से भी अधिक की संख्या में जन-जन तक पहुँच चुकी हैं। ग्रन्थाधिराज समयसार पर आपके नियमित प्रातः ७.०० से ७.२५ बजे तक जिनवाणी चैनल पर प्रवचन प्रसारित हो रहे हैं।

सर्वाधिक बिक्रीवाले जैन आध्यात्मिक मासिक 'वीतराग-विज्ञान' हिन्दी, मराठी तथा कन्नड़ के आप सम्पादक हैं। श्री टोडरमल स्मारक भवन की छत के नीचे चलनेवाली विभिन्न संस्थाओं की समस्त गतिविधियों के संचालन में आपका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

वर्तमान में आप श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् के अध्यक्ष, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर के महामन्त्री हैं। आप मंगलायतन विश्वविद्यालय में सर्वोच्च समिति (कोर्ट) के सदस्य एवं दर्शन विज्ञान संकाय के ऑनरेरी डीन हैं।

समाज की शीर्षस्थ संस्थाओं यथा-दिगम्बर जैन महासमिति, अ.भा. जैन परिषद्, अ.भा. जैन पत्र सम्पादक संघ आदि से भी आप किसी न किसी रूप में जुड़े हैं।